"तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी के प्रमुख संस्कृत महाकाव्यों में चित्रित भारतीय समाज और संस्कृति-एक अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
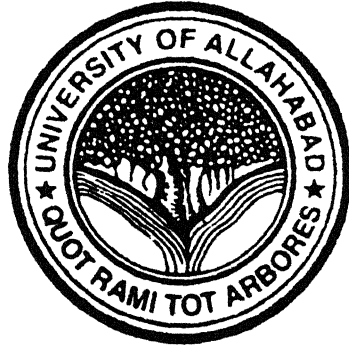
शोधकर्त्री

(श्रीमती) शशिबाला

दिग्दर्शिका

डॉ० ज्ञानदेवी श्रीवास्तव

प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष (अ०प्रा०),

सस्कृत-विभाग,

इलाहाबाद-विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

2002

अनुक्रमणिका

आमुख

एक सभ्य समाज की सभ्यता और सांस्कृतिक प्रणाली के अध्ययन के निमित्त उसके आर्थिक सगठन, और राजनीतिक तत्र, सामाजिक और धार्मिक आचरण, भाषा और शिक्षा तथा कलात्मक उपलब्धियो का समाकलन अपेक्षित है। तेरहवी से पन्द्रहवी शताब्दी मे भारत के बाहर से आये मुसलमान आक्रमणकारियों ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। संस्कृत साहित्य विशेषत सस्कृत महाकाव्यों मे उपलब्ध सामग्री को आधार बनाकर तत्कालीन समाज और संस्कृति के विविध आयामों का विस्तृत ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास इस शोध प्रबन्ध में किया गया है।

शोध कार्य का आरम्भ 1996 मे हुआ। परमादरणीया गुरूवर्या डॉ0 ज्ञानदेवी श्रीवास्तव (विभागाध्यक्षा (अ0 प्रा0) संस्कृत–विभाग, इलाहाबाद–विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) ने संस्कृत साहित्य मे तेरहवी से पन्द्रहवीं शताब्दी के भारतीय समाज और संस्कृति के स्वरूप–विवरण के अनुसधान का कार्य करने का आदेश दिया। गुरूवर्या के निर्देशन मे मैने सस्कृत साहित्य मे इतिहास की गवेषणा प्रारम्भ की। यद्यपि अनेक व्यवधान आये किन्तु दृढ निश्चय और गुरूकृपा तथा अपने आत्मीयजन की प्रेरणा व सहयोग से यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ।

इस कार्य के दौरान उनके वैदुष्यपूर्ण निर्देशन के साथ ही मुझे गुरूवर्या का मातृवत् स्नेह भी प्राप्त हुआ जिसके लिए मै हदय से उनकी कृतज्ञ हूँ। प्रो.एस एन लाल (भू.पू. प्रोफेसर अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद–विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के महत्त्वपूर्ण सुझावो व प्रेरणार्थ मै विनम्र आभार प्रकट करती हूँ।

इलाहाबाद) के महत्त्वपूर्ण सुझावो व प्रेरणार्थ मै विनम्र आभार प्रकट करती हूँ। इसके साथ ही मै अपने पति डा कौशल किशोर श्रीवास्तव (रीडर, सस्कृत–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) की हृदय से आभारी हू जिन्होने हर तरह की बाधाओ को दूर करते हुए प्रत्येक पग पर मुझे सहयोग देकर मेरा मनोबल बढाया और इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरा साथ दिया। प्रूफ देखने के कार्य को सम्पन्न करने मे सहयोग देकर मेरे बच्चों प्रश्रिता कौशल और शाश्वत–कौशल ने इस कार्य को आगे बढाने मे मेरी मदद की इन बच्चो का इस कार्य मे अमूल्य योगदान है एतदर्थ वे दोनो मेरे स्नेह व आशीर्वाद के पात्र है। अपने माता–पिता के आशीर्वाद के बिना तो इस कार्य को पूर्ण करने मे अपने आप को असमर्थ पाती हू। अत मै इनकी भी आभारी हू।

इस शोध प्रबन्ध को कम्प्यूटर द्वारा मुद्रित करने हेतु श्री पकज श्रीवास्तव धन्यवाद के पात्र है। इस शोध– प्रबन्ध को पूर्ण करने मे प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सहयोग देने वाले सभी महानुभावो को मैं धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। यह शोध–प्रबन्ध सुधीजनो के समक्ष मेरे प्रथम गम्भीर कृति के रूप में परीक्षाणार्थ प्रस्तुत है।

विनयावनता

शशि बाला

(शशि बाला)

दिनाक 21 12 2002

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

विषय-परिचय

आठवी शताब्दी मे भारत वर्ष मे ऐसा सामाजिक परिवर्तन शुरू हुआ जिससे राजनीति, आर्थिक व्यवस्था और समाज के अलग अलग वर्गो के आपसी रिश्ते बदलने लगे। देश अनेक रजवाडो मे विभक्त हो गया। इनके शासको के आपसी झगडे का प्रभाव आर्थिक जीवन का समाज पर बराबर पडता रहा, लेकिन साथ ही साथ साहित्य और कला ने काफी उन्नति की। इस जमाने मे गजनी के और गोर के सुल्तानो ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किये।

13 वी शताब्दी के शुरू होते ही दिल्ली में तुर्को की सल्तनत स्थापित हो गयी। इस सल्तनत की स्थापना से समाज पर तरह–तरह के असर पडे और नयी–नयी धाराए आयीं, चाहे वे विचार के क्षेत्र में हो, चाहे शासन मे चाहे धार्मिक या साहित्यिक दृष्टिकोण मे। इन नयी धाराओ और शैलियो के भी असर दिखायी पडने लगे। धीरे–धीरे दिल्ली सल्तनत पूरे उत्तर भारत पर छा गयी और 14 वी शताब्दी में दक्षिण भारत के उत्तरी भाग पर भी कब्जा हो गया। दक्षिण भारत मे दिल्ली का राज्य बहुत थोडे दिन तक था और वहा बहमनी सल्तनत की स्थापना हो गयी। इसी समय विजय नगर का साम्राज्य तेजी से बढा। और बढने के साथ ही इसने भी समाज के हर पहलू पर गहरा असर डाला। 15 वी शताब्दी मे दिल्ली सल्तनत के कई टुकडे हो

गये। और उत्तरी भारत के अलग अलग हिस्सो मे प्रदेशिक सल्तनते बन गयी। इन प्रादेशिक सल्तनतो में माषा और साहित्य तथा कला की विशेष उन्नति हुई। इस (मध्य) काल मे राजनीतिक और आर्थिक हाल के साथ ही सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक विचारधाराए नये रूप मे प्रसरित होने लगी।

मध्य युग केवल भारत ही नही वरन् समस्त विश्व के इतिहास मे किन्ही विशेष परिस्थितियो का द्योतक होता है। ये परिस्थितिया विभिन्न कालों अथवा युगो में विश्व के सारे देश मे व्याप्त रही है। प्रत्येक युग विशेष सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों का बोधक होता है। लगभग हर देश के इतिहास में किसी न किसी समय कुछ विशेष परिस्थितियो के परिणाम स्वरूप मध्य युग का अस्तित्व रहा है।

प्रत्येक देश के मध्ययुग के इतिहास की अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियां होती है। भारतीय इतिहास के मध्य युग से पूर्व तक कुछ खास विशेषताएं विद्यमान थी। पूर्व मध्य कालीन भारतीय सामाजिक ढांचे के धर्म एवं कला सम्बन्धी परिवर्तनो को सामन्तवादी सामाजिक रचना के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। भारतीय सामन्तवाद के वास्तविक स्वरूप व्यापार मे पतन, सिक्कों के अभाव मे बद अर्थव्यवस्था के उदय के लिए मूलत· उत्तरदायी थे। यह अन्तर्विरोध एक और ब्राह्मणो, क्षत्रियो तथा वैश्यो के मध्य और दूसरी ओर ब्राह्मणों व शूद्रो (किसानो,शिल्पकारो और मजदूरो) के बीच विद्यमान था।

तुर्को के आगमन के बाद मध्यकाल मे होने वाले परिवर्तनों पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि देश के कुछ मामलों मे परिवर्तन प्रगट हुए,

फिर भी तुर्की शासको के काल मे भी पुराना सामन्तवादी समाज बना रहा। भूदानो की सख्या बढती गयी, जातियो का प्रगुणन होता रहा और कला, भाषा एव साहित्य मे भी क्षेत्रीयतावादी प्रवृत्तिया शक्तिशाली होती गयीं।

मध्यकालीन भारत मे किसानो द्वारा उत्पादित कृषि अधिशेष का अधिकाश भाग सुल्तानो व अमीरो के पास चला जाता था जबकि कृषि प्रकियाओ तथा ग्रामीण जीवन पर जमीदारो का नियंत्रण था। अत इस समस्या को मध्य कालीन भारत मे सम्पत्ति सम्बन्धो के स्वरूप, जागीदारी व्यवस्था और ग्राम समुदाय की कार्यप्रणाली पर प्रकाश पडता है। कृषि सम्बन्धी नवीन स्वरूप के कारण शहरीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई जिसके परिणाम स्वरूप बडे–बडे नगरो कस्बो की स्थापना और विकास हुआ।

इस शहरीकरण कला की प्रक्रिया को गतिमान बनाने के लिए एक विशाल केन्द्रीभूत साम्राज्य ने प्रेरणा दी। 'इक्तादारी' व्यवस्था के रूप में लगान सम्बन्धी व्यवस्था ने इस केन्द्रीभूत साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया। विशाल स्थायी सेनाओं के गठन के परिणामस्वरूप दस्तकारी की वस्तुओं की मांग काफी बढ गयी। जिसने आन्तरिक व बाह्रय व्यापार को बढाने मे काफी मदद दिया। इस शहरीकरण ने मुद्रा अर्थव्यवस्था और माल उत्पादन अर्थात बाजार मे विक्रय के लिए माल के उत्पादन को बढावा दिया।

मध्यकालीन भारतीय समाज जब तक वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के साथ चलता रहा,वह प्रत्यक्ष रूप से उपलब्धिया हासिल करता रहा। भारत एक कृषि प्रधान देश है अत. इनका तकनीकी प्रयोग भी कृषि सम्बन्धी उपयोगिताओ तक ही सीमित रहा। मध्यकालीन ग्राम क्षेत्र के मुकाबले मे

नगरो का विकास अधिक हुआ परन्तु फिर भी ग्राम्य क्षेत्र तुर्की शासन के प्रभाव से अछूते नही रहे। प्राचीन काल का जातिगत ढाचा, वर्णाश्रम व्यवस्था और उससे जुडे हुए तत्व इस काल मे भी कियाशील रहे और मध्य काल मे उसमे कोई खास परिवर्तन नही हुआ। परन्तु जिन समकालीन परस्थितियो मे ग्रामीण ढाचा समग्र रूप मे विद्यमान था उसमें कुछ नाजुक किस्म के परिवर्तन आए। शासकवर्ग के स्वरूप और तत्सम्बन्धी प्रभावो ने समाज की स्थिति को प्रभावित किया। ये परिवर्तन व तत्सम्बन्धित प्रभाव ही प्राचीन काल को मध्ययुग से पृथक करते है।

भारत मे नवस्थापित तुर्की शासन ने राजनीतिक सत्ता मे विभिन्न प्रशासनिक जिम्मेदारियो मे हिन्दू राजाओ का अपना भागीदार बनाया। परन्तु जैसे तुर्की शासनका विस्तार हुआ, सल्तनतके सुदृढीकरण की प्रक्रिया 13 वीं शताब्दी के अन्त तक पूर्णत· गतिमान हो गयी और जैसे–जैसे भारत व सामाजिक गठन मे परिवर्तन हुआ वैसे–वैसे तुर्की शासन के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आने लगे। मध्यकालीन समाज में पारस्परिक समझौते एवं समन्वय की भावना का विकास हुआ। अब शासकीय पद उन लोगो के लिए खुले थे, जिनमें समुचित योग्यता व गुण विद्यमान थे। योग्यता का आधार अब सम्प्रदाय या धर्म नही रह गया था। भारतीय एव इस्लामी सभ्यताओ एव संस्कृतियों के अन्तर्मिलन की प्रक्रिया ने भारतीयकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया। इस प्रकिया को भक्ति एव सूफी आन्दोलन ने और अधिक सशक्त बनाया।

प्रस्तुत शोध अध्ययन (मध्य) काल से सम्बन्धित सारे

पक्षो–राजनीतिक और राजतत्र, राज्य एव धर्म, आर्थिक तथा तकनीकी विकास, धर्म एव साहित्य आदि सभी विषयो का यथासम्भव सन्तुलित विवेचन किया गया है। इस शोध ग्रन्थ के ऐतिहासिक तथ्यो को जानने मे सहायक स्रोतों में साहित्यिक साक्ष्यो का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुस्लिम आक्रान्ताओ के आक्रमण और मुस्लिम शासन की स्थापना से सस्कृत साहित्य के परिवर्तन पर बुरा असर पडा। फिर भी इस युग मे जो सस्कृत साहित्य रचा गया,वह मध्य कालीन समाज के अर्थ, राजनीति, धर्म और सस्कृति को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त है।

जोनराजकृत राजतरगिणी, राज्यावलिपताका, वीरकम्परायचरितम्, सालुवाभ्युदय, मदुराविजयम्, सुकृतसकीर्तनम, जगदूचरितम्, चन्द्रप्रभचरितम्, हम्मीरकाव्यम्, वसुपालचरितम्, नलाभ्युदय आदि महाकाव्य इस युग की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक इत्यादि स्थितियो को बखूबी बताते है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे अन्य ग्रन्थो की तुलना मे जोनराजकृत राजतरगिणी, जिसने सम्पूर्ण मध्य युग के इतिहासको अपने मे समेट रखा है, को प्रमुख आधार बनाकर सग्रह करते हुए कतिपय सस्कृतेतर ग्रन्थो, हिन्दी और अग्रेजी मे लिखित इतिहास ग्रन्थो का भी उपयोग किया गया है। ऐतिहासिक तथ्यो की विश्वसनीयता एव प्रामाणिकता बनाये रखने के लिए तथा विषय के सम्यक् प्रतिपादन के लिए अपेक्षित पत्र–पत्रिकाओं की सामग्री भी उपयोग मे लायी गयी है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास

भारत पर इस्लामी प्रभाव के दृष्टिकोण से 11वी सदी के आरम्भ में भारत पर तुर्क अफगानो की विजय बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसके द्वारा भारत मे इस्लाम का राजनीतिक शक्ति के रूप मे आगमन हुआ। मुसलमानो की अरब–ईरानी सस्कृति थी। मुसलमानो के भारत मे आने से पूर्व भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों मे विभक्त था। मुसलमानो के आने से उसका विभक्तीकरण बढ गया। हिन्दू समाज चार श्रेणियो मे विभक्त था। समाज का सबसे सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानो का था। वह भारत शासक वर्ग था। इस कारण वह सबसे प्रभावशाली और विशेष अधिकारों से युक्त था। शासन और समाज मे उनका स्थान श्रेष्ठ था। परन्तु विदेशी मुसलमान भी विभिन्न वर्गों में विभाजित थे तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अरबी सीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे।

13वी शताब्दी तक तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित रखी थी और अन्य विदेशी मुसलमानो को समानता का दावा नही करने दिया। परन्तु 14वी सदी के आरम्भ में इस स्थिति मे परिवर्तन आया। खलजियों द्वारा शासन सत्ता प्राप्त करते हुए तुर्को की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा परस्पर विवाह सम्बन्धो व बदली परिस्थितियों ने सभी मुसलमानो का स्तर एक सा कर दिया। समाज का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानो का था। ये वे ही मुसलमान अथवा मुसलमानो के की वंशज थे, जो हिन्दू से मुसलमान बने थे या

परिवर्तित मुसलमानो की सन्ताने थी, विदेशी मुसलमानो ने इन्हे कभी अपने समान नही समझा। अधिकाश भारतीय मुसलमान निम्न हिन्दू जातियो मे से थे, जिन्होने जातिव्यवस्था की कठोरता से विद्रोह करते हुए ये कदम उठाया था। इस कारण भी विदेशी मुसलमानो के समाज व शासन मे इन्हे बराबर का स्थान नही दिया गया।

14 वी शताब्दी मे खलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति मे कुछ सुधार हुआ परन्तु भारतीय मुसलमानो की स्थिति पूर्ववत् रही। हिन्दू जाति व्यवस्था का प्रभाव भी मुसलमानों पर पडा, मुख्यतः धर्म –परिवर्तित मुसलमान अपनी हिन्दू जाति के प्रभाव से मुक्त न रह सके। इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान नस्ल और उत्पत्ति के आधार पर विभिन्न वर्गों मे बटे हुए थे। भारतीय समाज का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दुओं का था। हिन्दू समाज जाति व्यवस्था के कारण पहले से ही विभिन्न वर्गो मे बंटा हुआ था। मुसलमानो से अपने समाज की सुरक्षा के लिए हिन्दुओ ने जाति –बन्धन और कठोर कर लिए, जिसके कारण विभिन्न नवीन उपजातियों का आविर्भाव हुआ। कल्हण (11 वी शताब्दी) कालीन भारतीय समाज उत्साहमय, आहलाद्मय था, सस्कृत उस समय की प्रमुख भाषा थी। परन्तु जोनराज (सल्तनत कालीन युग) के समय के पुरातन समाज टूट गया था। पुरानी मान्यताओ, आचारो–विचारो का लोप हो रहा था। नवीन मान्यताए, नवीन विधियां स्थान ग्रहण कर रही थी। समाज का कलेवर न हिन्दू था और न पूरा मुसलमान, हिन्दू से मुस्लिम मे परिवर्तित हो रहा था। वह हिन्दू समाज का गिरता हुआ अन्तिम रूप और मुस्लिम समाज का उदयकालीन दृश्य उपस्थित करता था। यह संक्रमण काल

था। जनता मुस्लिम होने पर भी पुरातन परम्परा से बिल्कुल बाहर नही निकल सकी थी।

विवाह

स्मृतियो ने मनुष्य के जन्म से मृत्यु पर्यन्त के विकास क्रम को सस्कारो से बाध रखा है। उसके प्रत्येक विकास के चरण को विभिन्न सस्कारो मे विभाजित किया है। इन्ही मे से एक प्रमुख सस्कार है विवाह।

स्मृतियो के द्वारा प्रतिपादित 16 सस्कारो मे विवाह, सस्कार अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।[1] पूर्व वैदिक व तदनन्तर काल मे स्त्री व पुरुष किसी बधन मे न रहकर अपनी यौन इच्छाओ की पूर्ति के लिए स्वच्छद व्यवहार करते थे। स्त्रियाँ एक व अनेक पुरुषो के साथ अपने सबध स्थापित करती थी। इसका विरोध श्वेतकेतु ने किया व नियम बनाया कि जो भी पुरुष या स्त्री अपने सयम से डगमगाएगा दण्ड का भागी होगा। परन्तु आधुनिक लेखको ने इसका विरोध किया है।[2]

अल्बरुनी के अनुसार विवाह कामजन्य सवेग के शमन का सुसभ्य उपाय है।

"समाज की प्रमुख इकाई परिवार के अभ्युदय व विकास जिस सस्कार पर निर्भर है व सस्कार है विवाह।"

---

1 महाभारत आदि पर्व (31–37–38)

2 मैरिज पास्ट एण्ड प्रेजेट (पृष्ठ–10)

तत्कालीन समाज मे प्रचलित विवाह परम्पराए

12 वी शताब्दी व इसके बाद कई स्मृतियो में पूर्व वर्णित विवाह व्यवस्था को दोहराया गया है उनके अनुसार उस समय सजातीय विवाह ही प्रचलित थे, समाज के प्रमुख अग चारो वर्ण के लोग अपनी जाति में ही विवाह करने को बाध्य थे। तत्कालीन समाज मे अन्तर्जातीय विवाह वर्जित थे। [1] परन्तु ब्राह्मण क्रमश· अन्य तीन वर्ण समुदाय अपने समाज में ही वैवाहिक सम्बध स्थापित कर सकते थे। उस समय सन्तानोत्पत्ति व अन्य धार्मिक कृत्यो हेतु अपनी जाति को ही वरीयता दी जाती थी और ये ही विवाह सर्वमान्य व सामाजिक थे। [2]

ये विवाह उस श्रेणी मे रखे जा सकते हैं जिन्हे सामाजिक मान्यता नही प्राप्त थी जैसे उच्च जातियों के व्यक्ति अपने यौन सुख की पूर्ति के लिए अपने से निम्न जाति के कन्या से भी विवाह करते थे। किन्तु इस प्रकार के विवाह को सामाजिक मान्यता नही प्राप्त थी और न ही इस प्रथा से ब्याही स्त्री को समाज में सम्मानीय स्थान प्राप्त था। वो केवल विवाहित पुरुष के साथ शरीर सुख तक ही सीमित रहती थी। इस प्रकार के विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता था प्रायः इस प्रकार के विवाह निषिद्ध थे।

स्मृतियो के अनुसार उस समय भी वैदिक काल के तुल्य समान गोत्र में ही विवाह होते थे सर्वोत्तम विवाह के लिए गोत्र व प्रवर का भी ध्यान रखा जाता था। मिताक्षरा में भी इस तरह के विवाह को मान्यता दी गई है। उस समय सपिण्ड विवाह वर्जित थे इस तरह के विवाह में पिता की तरफ से

---

1 पराशर माधव(I,93–98)

2 याज्ञवल्क्य(शूलपाणि)

सात पुश्त व मातृ पक्ष के पाचवी पुश्त तक एक दूसरे का सम्बन्ध न हो अर्थात् उनके पूर्वज अलग –अलग हों।[1] दायभाग के अनुसार सपिण्ड का अर्थ चावल के पिण्ड या उसके अवशिष्ट से है जो उभयनिष्ठ पूर्वज को दिया जाए। मदन परिजात ने पहले उदाहरण को इसलिए प्रस्तुत किया, जिससे वो पहले के पक्ष मे दूसरे का खडन कर सके। पराशर माधव ने दोनो को मिलाकर एक कर दिया 'किसी भी व्यक्ति को सपिण्ड विवाह नही करना चाहिए चाहे वो मातृ पक्ष का हो या पितृपक्ष का' गृहस्थ रत्नाकर के अनुसार पहला पक्ष समान गोत्र व प्रवर ही माना है। याज्ञवल्क्य के टीकाकार ने इसको और संकुचित कर दिया और उन्होने पितृ पक्ष के पाच पुश्त व माता के तीन पुश्त तक के सबधो तक ही इन्हे सीमित कर दिया। और औचित्य सिद्ध किया कि सात व पांच पुश्त वाले सिद्धात को गोद लिए हुए सन्तान या सौतेली माता की सन्तान अन्य जाति की माता से या आसुर विवाह (जो कि प्रचलन मे नही था) से उत्पन्न सन्तान के लिए ही सम्भव था। गृहस्थ रत्नाकर ने इस तरह के सबंधो को निन्दनीय बताया है।

अतत: उपर्युक्त तथ्यों का अवलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि उस समय सपिण्ड विवाह का प्रचलन नही था। कुछ उदाहरणो को छोड कर सामान्यतया समानगोत्र व प्रवर के विवाह को ही उचित व सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।

उस समय दक्षिण भारत मे विवाह की और कुप्रथा प्रचलित थी। जिसके अनुसार भाई–बहन की सन्तानो मे विवाह सम्भव था। परन्तु उत्तर

---

1 मदनपारिजात (129–33) और
पराशरमाधव (I. 465–66)

भारत मे इस तरह के विवाहो की घोर निन्दा की गई है। गृहस्थरत्नाकर ने इस तरह के विवाह की बहुत निन्दा की है और कहा है कि यदि इस तरह का विवाह किसी ने मामा की पुत्री से ने कर भी लिया हो तो उसे तुरन्त विवाह –विच्छेद कर लेना चाहिए और प्रायश्चित कर्म करना चाहिए तथा विच्छेद के पश्चात् पुन इस सबध को जीवित नही करना चाहिए।

परन्तु कुछ विद्वानो ने स्मृतियो और वेदो के वर्णन के अनुसार इसे उचित भी ठहराया है। इसका समर्थन अन्य विद्वानो ने भी अपने–अपने ग्रन्थ मे किया है। जिसे लम्बी बहस के दौरान स्मृतिचन्द्रिका व पराशर माधव ने बाद मे स्वीकार किया है। वेदो व स्मृतियो मे आसुर विवाह व इसके समान विवाहो को कुछ भागो मे उचित ठहराया है।

परन्तु सामाजिक मान्यता के अनुसार इस तरह के विवाहो को कुछ भागो मे छोडकर मान्यता नही प्राप्त थी। अतः इस तरह के विवाहो का वर्णन भी यदा–कदा ही कही प्राप्त होता है।

स्मृति के अनुसार विवाह के निषेधात्मक नियम पूर्ववत ही बताये गये है। सपिण्ड विवाह के लिए गुण व दोष नही बताये गये हैं। विधि द्वारा, अपितु इन नियमो का उल्लघन बालिका को पत्नी बनने से नही रोकते है, परतु ऐसा करने पर कुछ पश्चात्ताप भी करवाता है। अत एक तरह से इस तरह के विवाहों से प्राय लोग अपना बचाव करते थे।

कश्मीरियो मे विवाह स्वाजातियो तक सीमित नही था अन्तर्जातीय विवाह राजाओ ने किये है। उन्होने कल्पपाल, डोम्ब, वैश्व एवं ब्राह्मण स्त्रियो से विवाह किए। उसे समाज मे बुरी निगाह से नहीं देखा जाता था उनकी

सन्तान भी राजा हुई।

परजाति से विवाह करने पर कोई जातिच्युत नही होता था। ये सामाजिक बाते थी। समाज उन्हे इस बात की अनुमति देता था। आशय यह है कि उस समय (सल्तनत काल मे) कश्मीरी विवाह के मामले मे समाज उदारवादी दृष्टिकोण रखता था। इनका धर्म और राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था। [1]

उस समय के शासक शहमीर ने भी कश्मीर के कमजोर राजनीतिक व्यवस्था का फायदा उठाने के लिए विजातीय विवाह की प्रथा का प्रयोग अपने सम्राज्य मे किया। चूकि वो कश्मीर की शक्ति को बाहर से नही भेद सकता था अतः उसने मुस्लिम कन्याओ का विवाह कश्मीरी सैनिको व कुलीन वर्गो में करवाना प्रारम्भ किया और उनकी कन्याओ का विवाह मुसलमान कन्याओ के साथ करना प्रारम्भ किया।

कश्मीरी इस प्रपच मे व इस षडयत्र मे फस गये। उन्होने यह नही सोचा कि मुस्लिमो को अपनी कन्या देना उन्हे विधर्मी बना देना था। उनकी सन्ताने हिन्दू नही मुसलमान होती थी। हिन्दू घरो की मुस्लिम कन्याए अपनी सन्तानो पर अपना सस्कार (इस्लाम) डालती थी। मुस्लिम कन्याये हिन्दुओ से विवाह होने पर भी अपना धर्म न त्याग सकी। वे अपनी निष्ठा पूर्ववत इस्लाम धर्म मे ही रखती थी। [2] विवाह की इस कुप्रथा ने आगे चलकर

---

1 सोऽल्लेश्वसुता दत्वा लुस्तस्प तद्धीशितु ।
श्री शकरपुर जित्वा राज्ञ शकामवर्धयत् ।। (श्लोक–250)

2 लवन्योलोकस्तत्पुत्रीर्माला इव बभार ता ।
नाजानाद् भुजगीर्धोरविषा.प्राणहरी पुन ।। (श्लोक–259)

हिन्दू राजाओ व उनके साम्राज्य के पतन मे मुख्य भूमिका निभायी।

मेधातिथि ने ब्राह्मण का क्षत्रिय व वैश्य से अनुलोम विवाह अपवाद के रूप मे स्वीकार किया है।[1] मेधातिथि के अनुसार अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान माता की जाति की व प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सतान पिता की जाति की होगी परन्तु अनुलोम विवाह को कलियुग मे वर्जित माना गया है। इस युग की अनेक व्यवस्थाओ में समाजिक व्यवस्थाकारो द्वारा अन्तर्जातीय विवाह रोकने की प्रवृत्ति स्पष्ट है। स्मृतिचन्द्रिका तथा स्मृत्यर्थसार मे असवर्णो से विवाह कलिवर्ज्य घोषित किया गया है किन्तु स्वजातीय से विवाह (जो धार्मिक अनुष्ठानो व कृत्यो तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक था) के बाद विजातीय से विवाह की अनुमति दी है। अपरार्क तथा विज्ञानेश्वर ने उच्च्य वर्ण की कन्या से अनुलोम विवाह को उचित और शूद्रो से विवाह (जो केवल यौन सुख तक ही सीमित था) को सम्भव माना है।[1] मेधातिथि तथा विश्वरूप दोनों ने ही मामा की पुत्री से विवाह को अधम कोटि मे रखा है।[2] इस काल मे स्वंयवर (विशेषकर राजवशों में) के उदाहरण प्राप्त होते है। अग्नि पुराण व पराशर माधव के स्मृतियों के अनुसार स्त्रियों का पुनर्विवाह या विधवा विवाह, पतिके लापता होने पर, मृत्यु पर सन्यासी होने पर या जाति बहिष्कृत होने पर संभव था किन्तु मेधातिथि ने पुनर्विवाह या विधवा विवाह के विरुद्ध मत व्यक्त किया।[3] कुछ विशेष परिस्थितियो में नियोग शास्त्रीय व्यवस्था मे मान्य था।

---

1 मनु स्मृति (3–14),नारदीय पुराण

2 पराशर माधव (I, 123–27)

3(क).मनुस्मृति (18,6)[4]

विवाह की अवस्था

विवाह की अवस्था को लेकर उस समय की स्मृतियो, रचनाकारो मे भिन्न –भिन्न विचार है परतु तत्कालीन समाज मे पराशर माधव द्वारा वर्णित ग्रन्थ मे विवाह की अवस्था स्मृतियो मे वर्णित प्रथा के अनुरुप है। उनके अनुसार लडके की अवस्था 30 वर्ष व कन्या की अवस्था क्रमश 12 वर्ष, 24 व 8, 30 और 10 और 21 और 7 है। उनके अनुसार वर व वधू की अवस्था मे क्रमश तिगुने का अन्तर होना चाहिए। [4]

प्राचीन काल मे गृहस्थ आश्रम की योग्यता होने पर ही विवाह किया जाता था। 8 वी शताब्दी के आयुर्वेदवेत्ता सुश्रुत के अनुसार विवाह के लिए वर 25 व वधू 16 वर्ष की होनी चाहिए। स्मृति काल में कन्या की आयु और कम हुई और स्मृति के अनुसार 30 वर्ष का पुरुष 12 वर्ष की सुन्दरी कन्या से विवाह करे। [1] विवाह की अवस्था बीत जाने पर कन्या पिता के घर पर मृत्युपर्यन्त रह सकती थी। कुछ स्थानों पर स्थिति बिल्कुल विपरीत थी वहा किन्ही विशेष परिस्थितियो मे कुछ नवयुवक धन के लोभ मे अधेड उम्र की महिलाओ से भी विवाह कर लेते थे।

तत्कालीन समाज में माता–पिता अपनी पुत्री का विवाह यथाशीघ्र कर देना चाहते थे। अधिक आयु की कन्या को घर पर रखना निन्दनीय माना जाता था। मदन परिजात के अनुसार युवावस्था को प्राप्त कन्या के पिता के घर रहने के बजाय अयोग्य वर से ही वरण कर देना चाहिए। [2]

---

1 मनुस्मृति (18–,6)

2 याज्ञवल्क्य (3–254)

3 मनुस्मृति (8–255)

एक अन्य प्रथा के अनुसार स्मृतियो मे वर्णन है कि सर्वोत्तम कन्या दान नग्निका का माना जाता था, वो कन्या जो कि अपना वस्त्र भी ठीक से न पहन सके उस कन्या का विवाह उसके तीन गुने बडे वय के पुरुष के साथ कर दिया जाता था और ग्रन्थकार इस विवाह को सर्वोत्तम मानते थे।

पुराणो मे विवाह की अवस्था के वर्णन मे कुछ मतभेद हैं उनके अनुसार महाभारत काल मे विवाह की अवस्था पर वर वधू की क्रमश 8-24, 12-30, 16 32 या कन्या की उम्र 20 या अधिक बतायी गई है। [3]

कुछ परिस्थितियो मे कन्याओ द्वारा स्वयवर का भी प्रचलन था यह उस समय प्रमाणित था कि, विवाह योग्य कन्या का पिता उसका विवाह सही समय पर नही करता था। ऐसी स्थिति मे युवावस्था को प्राप्त कन्या, समाज द्वारा निर्धारित उम्र बीत जाने पर अपने पति का चुनाव स्वयं करती थी।[3] गृहस्थ रत्नाकर के अनुसार उस कन्या को विवाह की अवधि व्यतीत हो जाने के पश्चात तीन वर्ष या योग्य वर प्राप्त होने की आशा हो तो तीन महीने और रुककर अपने योग्य वर का चयन कर सकती थी। किन्तु इसके विपरीत पराशरमाधव ने इस प्रथा का विरोध किया है और उन्होंने अपने ग्रन्थ मे बताया है कि इस प्रकार की कन्या जिसकी विवाह की अवस्था व्यतीत हो चुकी है, उसका विवाह यदि अभिभावक किन्ही कारणो से न कर पा रहे हो तो उस कन्या को मृत्युपर्यन्त का समय अपने पिता के घर मे ही बिता देना चाहिए। किन्तु उस समय विवाह की यह प्रथा प्रचलित थी भी कि नही यह अज्ञात है।

---

1 मनुस्मृति (9–94)

2 मदनपारिजात (149–50)

3 महाभारत, आदिपर्व (31–50)

प्राय सभी माता पिता अपनी पुत्री का विवाह स्मृति या पुराणो के अनुसार निर्धारित आयु मेही कर दिया करते थे क्योकि वो कन्यादान को ही महादान मानते थे और धर्मभीरू होने के कारण प्राय सभी अपने कर्तव्य की पूर्ति करते थे हालाकि कन्या विवाह की यह निर्धारित आयु उसके खिलाफ अत्याचार ही दर्शाते है किन्तु उस समय व्यक्ति स्वय को समाज द्वारा निर्धारित नियमो से जकडा पाता था। क्योकि इससे बाहर जाने पर उसे जातिच्युत होने का डर सताता था जो कि उस समय कठोर दण्ड समझा जाता था समाज से बहिष्कृत व्यक्ति सभी सुविधाओ से वचित हो जाता था अत सभी समाज के ठेकेदारों द्वारा निर्धारित नियमो का पालन कठोरता से करते थे।

राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियो के कारण ऐसी विवशता थी विशेषकर हिन्दुओ मे प्रत्येक पिता अपनी बेटी का विवाह यथाशीघ्र कर देना चाहते थे प्रचलित विवाह के अनुसार माता–पिता के घर में छह या आठ वर्ष से अधिक उम्र की लडकियो का रहना वर्जित माना जाता था। वस्तुतः ये बाल विवाह सगाई के रूप मे होते थे। सहवास काफी समय बाद होता था जब वे तरुण हो जाते थे किन्तु तथ्य ये है कि यह दोष प्रचलित रहा मुगलबादशाहो से पहले इस पर रोक नही लगाई जा सकी अकबर ने इस कुप्रथा को समाप्त करने मे पहल दिखायी। अकबर ने यह आदेश जारी किया कि लडके 16 वर्ष व लडकिया 14 वर्ष की उम्र से पहले विवाह न करे।

विवाह – भेद

मनुस्मृति के अनुसार विवाह के आठ प्रकार होते है ब्राह्म, दैव,

आर्ष, प्राजापात्य, आसुर, गधर्व, राक्षस व पैशाच। इनमे प्रथम चार प्रकार समाज मे सम्मानित थे और अन्तिम चार निन्दित माने गए थे।

अनुलोम व प्रतिलोम विवाह

वर्ण व्यवस्था को ध्यान मे रखते हुए गौतम, मनु स्मृति धर्मशास्त्रकारो ने सवर्ण (एक ही वर्ण के स्त्री–पुरुष के) विवाह को श्रेष्ठ माना है। परतु वैदिक काल मे यह प्रतिबन्ध दृष्टिगत नही होता। समाज मे अन्तर्विभक्त किया गया– अनुलोम तथा प्रतिलोम। उच्च वर्ग के पुरुष और उससे निम्न वर्ण की कन्या का विवाह अनुलोम माना जाता था तथा इसके विपरीत उच्चवर्णीय कन्या का उससे अवर वर्ण वाले पुरुष से विवाह प्रतिलोम। अनुलोम विवाह के आधार पर ब्राह्मण तीन (क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कन्याओ से) क्षत्रिय दो (वैश्य एव शूद्र स्त्रियो से) तथा वैश्य मात्र एक (शूद्र कन्या से) अतिरिक्त विवाह कर सकता था। [1] यह सिद्धात धर्मशास्त्रों मे मिलता था इससे ज्ञात होता है कि अनुलोम विवाह कुछ सीमा तक मान्य था किन्तु प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को वर्णसकर, निकृष्ट एव अस्पृश्य कहा गया है; जिसमे ऐसे विवाह के प्रति समाज की अमान्यता परिलक्षित होती है।

विवाह –विच्छेद

प्रचीन स्मृतियो विवाहों के प्रकारो और उनके गुणदोषो की विस्तृत विवेवना इस काल के ग्रन्थो मे किया गया है। उन्होने सप्तपदी के विवाह सस्कार (सात फेरों) के पश्चात् ही कन्या किसी पुरुष की विवाहिता

---

1 गृहस्थरत्नाकर (42–43)

पत्नी होने का अधिकार प्राप्त करती है। प्राचीन स्मृतियो के अनुसार ही इस काल मे भी विवाह की परम्पराए मान्य थी। यदि विवाह तय होने के पश्चात् वर या कन्यापक्ष को किसी पक्ष के दोषो का पता चलता है तो उस दशा मे विवाह को सप्तपदी से पूर्व ही तोडा जा सकता है। यदि कन्या पक्ष को वर की अयोग्यता नपुसकता के बारे मे सप्तपदी से पूर्व ही ज्ञात हो जाए तो विवाह –विच्छेदन किया जा सकता है। इस तरह की स्थिति मे कन्यापक्ष वर को विवाह हेतु अयोग्य सिद्ध कर सकता है।

कभी–कभी विवाह तय होने के पश्चात् वर यदि विदेश चला गया तो पहले तो कन्या को कुछ निश्चित समय तक उसका इतजार करना चाहिए, परतु समय व्यतीत होने के पश्चात् कन्यापक्ष इस विवाह को मना कर सकते थे।

अन्य अवस्था मे यदि पति की मृत्यु सप्तपदी के पूर्व हो जाती है या विवाह के बाद ही यदि ऐसा हो जाए तो उस स्त्री का विवाह के बाद यदि ऐसा हो तो उस स्त्री का विवाह समान गोत्र मे क्रमश उसके देवर या समान संबधी से हो सकता था। [1]

गृहस्थरत्नाकर के अनुसार जो प्रथम पाच प्रकारो के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले विवाह में कन्या एक पुरुष को एक ही बार दी जाती थी और शेष तीन प्रकार से सम्पन्न होने वाले विवाह सस्कार मे यदि कन्या पक्ष को अन्य कोई दूसरा श्रेष्ठ वर प्राप्त हो जाए तो वह पहले से तय किए हुए विवाह को तोडकर दूसरे अन्य योग्य वर से दूसरी बार विवाह कर सकता था। [2]

---

1 (क)शरवस्मृति (4,6,8)
(ख) मनुस्मृति (10,10)

अर्थात् प्रथम पाच प्रकार के विवाहो मे कन्या का दान पहले से तय वर से ही होता था अर्थात् एक बार ही होता था। परतु अन्तिम तीन प्रकार के विवाहो मे कन्या को अच्छा वर मिलने के कारण पहले को छोडकर दूसरे उच्च व योग्य वर से ब्याह कर दिया जाता था।

पति–पत्नी के पारस्परिक कर्तव्य

पति का कर्तव्य होता था कि वो अपनी पत्नी का हर प्रकार से ध्यान दे अर्थात् हर प्रकार की जैसे सामाजिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करे। यदि व्यक्ति की एक से अधिक पत्नी हो तो उनका भी उसे हर प्रकार से ध्यान देना चाहिए। [1]

गृहस्थरत्नाकर ने कहा कि यदि कोई अपनी पत्नी के अच्छे आचरण से युक्त हो उसे छोड दिया हो तो उसे वापस रखना पडेगा। [2] पुरुष यदि ऐसा करता है तो वह कठोर दड का भागी होगा। पत्नी ईश्वर द्वारा प्रदत्त उपहार मानी जाती थी। उसकी उपेक्षा करने को ऐसा अपराध माना जाता था जितना कि उसे चोट पहुँचाना था। शारीरिक क्षति पहुचाने के बराबर समझा जाता था। [3] साथ ही यह भी कहा गया है कि नीच व दुष्टा पत्नी का भी भरण–पोषण उसे करना पडता था, बस उसको दी जाने वाली सुविधाओ का स्तर निम्न हो जाता था।

आगे बताया गया है कि यदि अपनी सच्चरित्र पत्नी को कोई परेशान करता था या छोड देता था तो इसके लिए यह विधान था कि राजा उसे विवश करता था कि वो उसे वापस अपने पास रखे यदि वे पुरुष इस से

1.मदनपारिजात (150–153)

2 गृहस्थरत्नाकर (48)

इन्कार करता था तो राजा पुरुष को दण्ड देता था कि वो अपनी पत्नी को उसके भरण–पोषण के लिए अपनी सम्पत्ति से एक तिहाई भाग दे और यदि पुरुष निर्धन है तो इसके लिए मेहनत –मजदूरी करके अपनी परित्यक्ता स्त्री के भरण–पोषण की व्यवस्था करे। [1]

पत्नी अपने हर कार्य के लिए पति पर आश्रित थी। उसे किसी प्रकार की स्वतत्रता नही प्राप्त थी। स्त्रियों के कर्तव्य का निर्धारण इस प्रकार से किया गया था कि वो कुसगति से दूर रहे, पति के प्रति पूरी निष्ठा व्यक्त करे। [2] पति के प्रति विश्वासघात न करे, कोई भी कार्य करे तो इसमें पति की सहमति का होना आवश्यक है। वह पति के साथ–साथ उसके परिजनो का भी आदर करे सास–ससुर व अन्य बडे व्यक्तियो के सामने मर्यादा पूर्ण ढग से रहे व इस तरह के वस्त्रो को धारण करे जिससे उसके शरीर का प्रदर्शन न हो। पति अगर जीविकोपार्जन हेतु परदेश चला जाए तो यह सयमित आचरण से रहकर उसकी प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक करे।

यदि पत्नी मे कोई शारीरिक या चारित्रिक दोष हो तो पति यदि अतिकमण करके उस पत्नी के अतिरिक्त अन्य दूसरा विवाह कर लेता है तो पराशरमाधव के स्मृति के कठोर नियम को थोडा लचीला बना दिया कि यदि सन्तानोत्पत्ति के लिए एक पत्नी के रहते हुए भी व्यक्ति दूसरा विवाह करता है तो उसे उचित ठहराया है किन्तु केवल यौन–सुख के लिए किया गया इस तरह का विवाह अनुचित माना है। [3] किन्तु आगे ग्रथकार ने कहा है कि

---

1 पराशरमाधव (I, 506)

2 गृहस्थरत्नाकर (86)

3 व्यवहारविवेकोद्योत (318)

उपर्युक्त बताए गए विवाह मे पत्नी की सहमति आवश्यक थी अन्यथा पुरुष को दूसरा विवाह करने के कारण दण्ड का भागी होना पडता था।[1] यदि पूर्व ब्याही पत्नी अपना स्त्री–धन नवब्याहता पत्नी को नहीदेना चाहती तो पुरुष उसे बाध्य नही कर सकता था। पूर्व ब्याहता अपने समान अधिकार के लिए न्यायालय कीसहायता से अपने अधिकारो को प्राप्त करती थी।[2]

माता तथा बहन के रूप मे स्त्रियॉ सम्मानित थी किंतु पत्नी के रूप मे उन्हे पति की हर प्रकार से सेवा प्रदान करने का शास्त्रीय निर्देश था। हालाकि पति के अत्याचारो के विरुद्ध पत्नी को राजा से न्याय प्रार्थना की अनुमति थी। उत्तराधिकारी व सम्पत्ति से संबंध मे उन्हें पहले से ज्यादा अधिकार प्राप्त थे।

बाल–विवाह

असम के सिवा सपूर्ण भारत मे बाल–विवाह प्रचलित था। असम मे केवल ब्राह्मण व क्षत्रियो मे ही यह प्रथा प्रचलित थी। राजनीतिक व समाजिक परिस्थितियो के कारण ऐसा करना पडता था विशेषकर हिदू परिवारो मे। प्रत्येक पिता अपनी कन्या का विवाह यथाशीघ्र करना चाहता था। प्रचलित रिवाज के अनुसार माता–पिता के घर में छ. या आठ वर्ष से अधिक उम्र तक लडकियो का रहना वर्जित माना जाता था।

स्मृतियो के अनुसार युवावस्था को प्राप्त करने के पूर्व ही पुत्री का विवाह कर देना चाहिए। युवावस्था को प्राप्त कन्या को घर में रखने के

---

1 व्यवहारविवेकोद्योत (319)

2 मदनपारिजात (190–196)

बजाय उसकी शादी अयोग्य वर से ही कर देनी चाहिए।[3] वैदिक काल व उसके पूर्व से ही कन्या का विवाह तभी सम्पन्न कर देना चाहिए, जबकि उसे अपने वस्त्र भी ठीक से धारण करने का ज्ञान न हो। इसी परिप्रेक्ष्य मे स्मृतियो ने नग्निका विवाह को प्राथमिकता दी है उनके अनुसार इस तरह की कन्या का दान सर्वोत्तम दान है।[1]

इसी प्रकार महाभारत मे सर्वश्रेष्ठ विवाह के लिए क्रमशः वर कन्या की विवाह योग्य अवस्था 8 · 24, 30 :10, 12 36 और 7 21 की बताई गई है। इसमे सर्वश्रेष्ठ विवाह महाभारत के आदि पर्व में 12·36 को बताया गया है। किन्तु इन तथ्यों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उस समय की ये परम्परा बालिकाओ पर अत्याचार के समान था जो कन्या अपना वस्त्र ठीक से धारण नही कर सकती थी उस पर पूरे गृहस्थी का बोझ डाल देना कहॉ की बौद्धिकता थी।

विधवा –विवाह

प्रांरभिक मध्य काल मे कुछ निम्न जाति के सिवा हिन्दुओ मे विधवा- विवाह का बिल्कुल लोप हो गया था। पूर्व वैदिक काल से ही ये परम्परा चली आ रही थी कि पति की मृत्य के पश्चात या तो स्त्री को पति के साथ चिता मे जलकर प्राण त्याग देना चाहिए या तो मृत्युपर्यन्त संन्यासिनी की तरह जीवन व्यतीत करे। यदि कोई स्त्री इसका विरोध करती थी तो उसे समाज मे अच्छी निगाहो से नही देखा जाता था। ऐसी स्थिति मे सतीप्रथा का

---

2 पराशरमाधव (I,–509)

3 मेधातिथि (9–1)

प्रचलन स्वाभाविक था। विधवाओ को पुनर्विवाह का अधिकार नही प्राप्त था। परन्तु निम्न जाति मे विधवा विवाह सम्भव थे। परन्तु उच्च जाति मे विधवा विवाह निषेध था। किसी भी मध्य कालीन शासक द्वारा इसको पुन प्रचलित करने का प्रयत्न नही हुआ। अकबर ने भी विधवा विवाह का प्रचलन प्रारभ कराना उचित नही समझा। हालाकि इस विधान मे कुछ नरमी लाते हुए उसने विधवा–विवाह को कानूनी मान्यता थी। उसका मत कि जो नवयुवती अपने पति के साथ सुख भोग नही कर सकी उसे सती नही किया जाना चाहिए। यदि हिन्दू इसे अनुचित मानते हे तो उस स्त्री का विवाह किसी विधुर से कर दिया जाना चाहिए। यू तो तत्कालीन समाज मे एक पुरुष व एक स्त्री का विवाह मान्य था किन्तु धनवान व सम्मानित व्यक्तियो मे बहुविवाह प्रचलित था। उच्च और मध्यमवर्गीय समाज मे व्याप्त इस प्रथा की ओर तत्कालीन शासको का ध्यान गया और उन्होने यह प्रतिबध लगाया कि साधारण आय वाले व्यक्ति को एक विवाह करना चाहिए, यदि पहली औरत बॉझ हो तभी उसे दूसरा विवाह करना चाहिए।

हिन्दुओ मे कुछ धनिको व राजाओं को छोडकर प्राय एक विवाह की प्रथा थी। यही स्थिति कमोवेश मुस्लिम समुदाय की भी थी। स्त्री का बाझ होना था व्यभिचारी हो जाना– जैसी कुछ विशेष परिस्थितियो के अलावा हिन्दू विधि मे किसी व्यक्ति द्वारा तलाक देने की कोई व्यवस्था नही थी। इसके विपरीत मुसलमानो मे ऐसा कोई प्रतिबध नही था। उनके नियमो के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी भी स्त्री के साथ विवाह कर सकता था।

---

1 गृहस्थरत्नाकर (86)

बहु विवाह के चलते कई बुराइयॉ आईं फलस्वरूप परिवारो में कलह व अनैतिकता का पनपना स्वभाविक हो जाता था। मुसलमानों के उलेमाओ के अनुसर एक व्यक्ति निकाह के द्वारा चार औरतो, मूता के अन्तर्गत कई औरतो के साथ विवाह कर सकता था। और किन्ही विशेष परिस्थितियो मे तलाक भी दे सकता था। किन्तु तत्कालीन शासकों ने प्रथा को बन्द करने का आदेश जारी किया उनके अनुसार एक से अधिक स्त्री रखना आदमी के स्वास्थ्य के लिए अनिष्टकारी है और उससे परिवार मे भी सुव्यवस्था नहीं रहती है।

वशिष्ठ व बृहस्पति की स्मृतियों मे यह विधान कि स्त्री को उचित आचरण करना चाहिए जो कि सामाजिक मार्यादा के अनुरूप हो तथा जो पुरुष की प्रतिष्ठा में कमी न करे। परन्तु इसके विपरीत यदि स्त्री अपनी जाति या अपने से निम्न जाति के पुरुष से सम्बन्ध बनाये तो पति द्वारा उसका परित्याग कर दिया जाना चाहिए। परतु इसके विपरीत पराशर माधव लिखता है कि स्त्री का त्याग निषेध है।

किन्तु यदि समस्या होती है तो उसका समाधान भी रहता है। यदि स्त्री को उसकी त्रुटियो पर चाहे तो बडी हो या छोटी दण्ड का प्रावधान था तो उससे मक्ति का रास्ता भी सुझाया गया है। स्मृतियों में कहा गया है कि अपराधिनी स्त्री द्वारा प्रायश्चित कर लेने पर उसे वापस ले लिया जाता था। मदनपरिजात के अनुसार पतिता व परित्यक्ता स्त्री तथा पुरुष द्वारा प्रायश्चित करने का अनुष्ठान पूर्ण कर लेने पर समाज उन्हे वापस स्वीकार कर लेता था।[1] पुरुष तो पूर्ववत ही रहता था परन्तु स्त्रियो को घर के अन्दर

---

1 मदनपरिजात (968)

प्रवेश नही मिलता था, उन्हे घर के बाहर, या उसके पास ही रहने –खाने व वस्त्रादि की सुविधा देनी चाहिए। ऐसा विधान था। इतनी दया अवश्य की जाती थी कि उन्हें मृत्युदण्ड नही दिया जाता था। और नही उनका अग–भग किया जाता था हॉ इतना अवश्य था कि ऐसी महिला यदि विवाहित हो तो उसे पतिच्युत होना पडता था और यदि अविवाहित होती थी तो वह विवाह से वचित रखी जाती थी वैदिक स्मृतियों के अनुसार इन स्त्रियों से व्यवहार समाप्त कर देना चाहिए। जो महिला रोग से ग्रसित होती थी ऐसी परित्यक्ता स्त्री से पुनर्विवाह वर्जित था।पति के परदेश जाने पर या मृत्यु हो जाने पर अपनी दुश्चरित्रता के कारण गर्भवती स्त्री को विदेश भेज देना चाहिए। [1]

यदि ब्राह्मण स्त्री अपने ससुराल से किसी व्यक्ति के साथ बाहर जाकर रहती है अपनी सहमति से, तो वह प्रायश्चित के पश्चात भी अपने घर वापस नही आ सकती, ऐसा विधान था। ब्राह्मण स्त्री के प्रायश्चित के पश्चात् भी उसे वापस घर लौटने की अनुमति नही प्राप्त थी। [2] विधवा हो जाने पर स्त्री के पति की मृत्यु के बाद पति की चिता मे ही उसके साथ जल जाने का विधान था।

बृहस्पति व अन्य सभी स्मृतियो में ऐसा ही कहा गया है कि पत्नी को पति के साथ सती हो जाना चाहिए। उनके अनुसार सहमरण, अनुमरण व अनुगमन यदि सती प्रथा के पर्याय थे। यदि किसी स्त्री का पति विदेश मे मर जाए तो उसे यदि उसकी हड्डी प्राप्त हो तो उसके साथ अन्यथा स्वयं ही

चिता बनाकर उसके नाम पर सती हो जाना चाहिए। ब्राह्मण स्त्री को इस प्रथा से किसी प्रकार की छूट नही थी परंतु अन्य जाति मे यदि स्त्री गर्भवती है या उसके बच्चे अबोध है तो वो सती नही होती थी।

सभी स्मृतियो व सारो ने इस प्रथा का एक स्वर से अनुमोदन किया है व स्त्रियो को स्वर्ग प्राप्ति के लिये उत्तम साधन बताया है।

पूर्व वैदिक काल व वैदिक काल में तो यह प्रथा अपने चरम पर थी। परन्तु आगे चलकर इस व्यवस्था मे कुछ परिवर्तन हुआ। ऐतिहासिक साक्ष्यो मे भी सती प्रथा का समर्थन हुआ है। परन्तु इब्नबतूता कहता है कि 13 वी शताब्दी के बाद से सती होने के लिए सुल्तान से अनुमति लेना पडता था। निष्कर्ष ये है कि बाद मे यानी 13 वी शताब्दी के बाद से स्त्रियो की दशा मे कुछ सुधार हुआ और सती प्रथा पर रोक लगाई गई। स्त्री स्वेच्छा से सती नही हो सकती थी। सम्भवत मुहम्मद तुगलक (1325–1357) सर्वप्रथम मध्यकालीन शासक था जिसने इस जिसने इस कुप्रथा पर पर रोक लगाई। [1]

स्त्रियों की दशा

स्मृतियो के अनुसार स्त्री कौमार्य तक (अविवाहित अवस्था) पिता के सरक्षण में, विवाह के पश्चात् पति के सरक्षण मे, व वृद्धावस्था मे पुत्र के सरक्षण मे रहे अर्थात् जन्म से मृत्युपर्यन्त उसे पुरुष के सरक्षण मे रहने का विधान था। उसके लिए स्वतत्र रहने का कोई विधान नही था। वैदिक युग के बाद वाली सदियों मे महिलाओ की स्थिति मे निशिचित रूप से विकृति आयी। उन पर अनेक प्रकार के बधनो का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। हिदू

स्त्रियो की दशा पहले की तुलना मे गिर गयी। हमारी स्मृतियो के अनुसार स्त्रियो की दो प्रमुख श्रेणी थी। 1—ब्रह्मवादिनी स्त्री को पुरूषो की भॉति ही अधिकार प्राप्त थे अर्थात् उनका उपनयन सस्कार किया जाता था, वो अग्नि प्रज्ज्वलित कर सकती थी, भिक्षा मॉग सकती थी व अन्य सामाजिक कार्य कर सकती थी जो कि पुरूषो के लिए ही थे आशय ये कि इस श्रेणी की महिलाओ की स्थिति समाज मे अपेक्षाकृत दूसरी श्रेणी की महिलाओं की अपेक्षा ज्यादा अच्छी थी 2—दूसरी श्रेणी मे सद्योवधु आती थी जिनका कि उपनयन सस्कार भी येन केन प्रकारेण ही विवाह के पूर्व किया जाता था।इस श्रेणी की महिलाओं की स्थिति प्रथम श्रेणी की अपेक्षा ज्यादा खराब थी इन्हें स्वतत्र रूप से कोई भी कार्य करने का अधिकार नही था करती थी वो जो भी कार्य करती थी सभी मे पुरूषो की अनुमति अनिवार्य थी। एक प्रकार से उनकी स्थिति दासी के समान थी।

अपराध करने पर स्मृतियो मे वर्णित कानून के अनुसार दण्ड का विधान था। अलग—अलग अपराध के लिए अलग—अलग प्रायश्चित्त का विधान था। [1] परतु गम्भीर अपराध करने पर मृत्युदण्ड तक की व्यवस्था थी। यदि स्त्री ससुराल वालो को परेशान करती थी अर्थात् उन पर काला जादू (तत्कालीन प्रचलन मे था) करवा देती थी या जहर आदि देती थी तो ऐसी स्त्रियो को गृह से निष्कासन तक का प्रावधान था। उनसे घर के सदस्य बातचीत करना बद कर देते थे। यदि स्त्री ने बिना पति की सहमति प्राप्त किये बिना गर्भपात करा लिया है तो ऐसी स्त्री को घोर अपराधिनी माना जाता था और उसका घर से निष्कासन तो निश्चित ही था साथ ही बाल हत्या के

---

1 प्रायश्चित्तसार (32,56,64 और 75)

अभियोग मे उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता था तथा पुरूष द्वारा उसका परित्याग आवश्यक था।[1] मृत्युदण्ड का विधान बहुत ही गम्भीर अपराध था। प्राय इस दण्ड से बचा जाता था। ब्राहमण स्त्रियो के लिए विशेष प्रायश्चित विधान था। प्रायश्चित के पश्चात स्त्रियो को पुन अपने परिवार मे वापस आ सकती थी किन्तु अपराध के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित का विधान था।

संपत्ति का अधिकार

स्त्री की सपत्ति के सबध मे स्मृतियों में वर्णन है कि हिन्दू महिला को माता–पिता की सपत्ति मे कोई अधिकार नही प्राप्त था। यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती है तो पति की सपत्ति का आधा–आधा भाग पत्नी व पुत्र मे समान रूप से बॅट जाता था।[2] इसी स्मृति मे वर्णित संपत्ति के अधिकार के आधार पर आगे भी कोई परिवर्तन न होकर उसी विधान से निरंतरता बनाई गई अर्थात पति की मृत्यू के पश्चात यदि स्त्री को पति या ससुराल पक्ष से कोई स्त्रीधन नही प्राप्त है तो पति की सपत्ति मे से वो 1/2 भाग की हकदार होती थी शेष का हक उसके पुत्र को मिलता था।[3] परन्तु समाज के ठेकेदारो ने यहॉ भी अपनी मर्जी को स्त्री पर थोपा, अर्थात यदि सतान ब्राहमण स्त्री से उत्पन्न था तो सपत्ति का 1/2 भाग यदि

---

1 पराशरमाधव (III, 29 और 34)

2 याज्ञवल्क्यस्मृति (I, 115)

3 विवाद रत्नाकर (65)

4 मदनपारिजात (662–63)—P.T.O.

क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न हो तो 3/4 यदि वैश्य से उत्पन्न हो तो 1/2 व शूद्र स्त्री से उत्पन्न सतान को सपत्ति के आधे का 1/4 हिस्सा मिलता था। [4]

यदि पति निसतान मर जाए तो विधवा का सपत्ति पर सबसे पहला अधिकार माना जाता था। याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा इस प्रथा को मान्यता दी गई।बाद के ग्रथकारो ने भी आलोचना के बावजूद इस कथन के को सिद्ध किया है। याज्ञवल्क्य के स्मृति के अनुसार माता की सपत्ति मे पुत्री का भी हिस्सा होता था।माता की मृत्यु के बाद कर्ज आदि अदा करने के पश्चात् पुत्री का भी माता की सपत्ति मे समान हक माना जाता था। [1]

यह कहा गया है कि यदि पत्नी सच्चरित्र है तो पहला अधिकार उसी का माना जाता था। किन्तु यदि वह दुराचारिणी है तो उसका अधिकार समाप्त हो जाता था। यह नियम सभी तरह के अनुलोम व प्रतिलोम विवाहों द्वारा सभी पत्नियो पर क्रमश लागू था चाहे वो ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यदि स्त्री विधवाधर्म का पालन करती थी तो यदि उसके पति की कोई संतान (सगी या सौतेली) नहीं होती थी तो उस सपत्ति पर विधवा का अधिकार होता था। किन्तु यदि स्त्री पुनर्विवाह कर लेती थी तो उसे उतनी संपत्ति ही मिलती थी जिससे वो जीवन यापन कर सके। [2]

विधवा के अधिकार को तत्कालीन समाज मे मान्यता दी गई थी कि यदि पति ने एक स्त्री के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से संबध स्थापित किया है और वह उसके साथ नही रहती तो मृत्यु के पश्चात् उन्हे केवल भरण–पोषण हेतु ही सपत्ति प्राप्त होगी। [3]

---

1 याज्ञवल्क्यस्मृति (I, 117)

2 व्यवहारविवेकोद्योत (359)

3 व्यवहारविवेकोद्योत (360)

शूलपाणि ने भी इसी बात का अनुमोदन किया है व्यवहार काण्ड मे विधवा के अधिकार जो बताए गए हैं सम्पत्ति के वो सिर्फ ब्राहमण विवाह से सबधित पत्नी को ही प्राप्त थे। खरीदी गई स्त्री को नही। [1]

कोई भी स्त्री सपत्ति को बेच नहीं सकती थी।बिना संबधियोकी अनुमति के। [2]

विधवा पत्नी पति की मृत्यु के बाद उसकी चल व अचल सपत्ति की मालकिन हो जाती थी जो सतानहीन हो । [3]

पत्नी को संपत्ति पाने के एवज में हर वर्ष पति के मृत्यु के बाद उसकी बरसी व श्राद्ध कर्मो को सम्पन्न करे। तभी वो उसकी सम्पत्ति की अधि ाकारी हो सकती थी। [4]

स्त्रीधन जो स्त्री को माता–पिता द्वारा विवाह के पश्चात मिलता था या उसे ससुराल में प्राप्त होता था वो धन उस स्त्री का 'स्त्रीधन' कहलाता था। स्मृतियो में इसकी राशि को अलग–अलग रूप में बताया गया है। [5] अपने स्त्रीधन का मनचाहे ढग से उपयोग स्त्री कर सकती थी। वो उस धन को जो चल व अचल रूप मे रहता था। जिसमें से चल संपत्तिको बेच सकती थी या किसी को उपहार मे दे सकती थी। अचल सपत्ति के साथ उसे विकय का अधिकार नही प्राप्त था।

बाद में ग्रंथकारो ने इसकी विवेचना इस प्रकार किया है कि वह स्त्री जो निःसतान हो वो अपने स्त्रीधन को अपने भाई बहनो या विवाहित

---

1 व्यवहार काण्ड (405–8)

2 पराशर माधव (II,–360)

3.व्यवहार सार (250)

4 विवाद चिन्तामणि (237)

5 कात्यापनस्मृति व व्यासस्मृति

बहनो अथवा अपने माता–पिता को स्वेच्छा से दे सकती है। [1] ये व्यवस्था वो तब करती थी जब उसके ससुराल पक्ष मे कोई नही होता था, या तो वो उनसे अपना सबध विच्छेद कर लेती थी और वो जीवन–यापन के लिए अपने माता–पिता के घर की शरण लेती थी।

पर्दा–प्रथा

वैदिक युग के बाद वाली सदियो में महिलाओ की स्थिति मे निश्चित रूप से विकृति आई थी, किन्तु इस युग (सल्तनत कालीन) में बाल विवाह का कोई सकेत नही मिलता। इस्लाम के आगमन के साथ ही भारतीय क्षितिज पर नई परम्पराओ का उदय हुआ। मुसलमानो के मूलदेश मे महिलाओ का घूघट मे रहना अनिवार्य समझा जाता था। स्वभावतया भारत जैसे विदेशी स्थान पर भी इस पर विशेष जोर डाला गया। स्मृतियो के अनुसार वैदिक युग मे स्त्रियो के लिए पर्दा प्रथा का कोई विधान नही था परन्तु आगे चलकर पर्दा प्रथा का आविर्भाव हुआ। इसका एक मुख्य कारण ये था कि उस समय तक भारत मे तुर्कों का आगमन हो चुका था और वे (मुसलमान) हिन्दू स्त्रियों से विवाह करने को लालायित रहते थे। अत· उनसे बचावके लिए स्त्रियो को पर्दे मे रखा जाने लगा। एक और कुप्रथा ने जन्म लिया वो था बाल –विवाह। हिन्दुओ ने अपनीनारी जातिकी सुरक्षा तथा उसकी मर्यादा की सुरक्षा के लिए पर्दा प्रथा को अपनाया। ऊचे घरानो मे पर्दा प्रथा का पूरा पालन किया जाता था परतु निम्न वर्ग मे इसका चलन नही था उनकी स्त्रियाँ पुरुषो के साथ उनके उद्योग धन्धो मे भी बराबर सहयोग देती थी। अमीर व शाही घरानो मे

---

1. मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका

पुरुषो व औरतो मे सदेश वाहक के रूप बडी सख्या मे हिजडे रखे जाते थे। पर्दा प्रथा के चलते बीमार औरतो के इलाज के लिए भी मर्द चिकित्सक को शाही या अमीरो के जनानखाने प्रवेश नही मिलता था। ऐसा मौका आए भी तो उन्हे सेवक तथा हिजडो घिरी और पूरी तरह ढकी पालकी मे बद होकर जाना पडता था।

यदि कोई मुसलमान महिला किसी कारणवश थोडे समय के लिए भी पर्दा त्याग देती तो उसे भयकर परिणाम भुगतना पडता था। सल्तनत काल मे काबुल के गर्वनर अमीर खॉ ने अपनी बीबी को केवल इसलिए छोड दिया था कि हाथी के पागल हो जाने पर जान बचाने के लिए नीचे कूदते समय के लिए बेपर्दा हो गई थी।

इसके विपरीत उस समय भी राजपूत महिलाओं को पर्दा प्रथा की कुप्रथा से मुक्ति मिली थी। औरतें प्राय· युद्धकला की शिक्षा ग्रहण करती थीं और प्रायः शिकार तथा अन्य अभियानो मे भी भाग लिया करती थी। युद्ध के समय जब राजपूत युद्ध के मैदान मे होते थे तो, किले की सुरक्षा के लिए, दुश्मनो से मुकाबला करने के लिए राजपूत कन्याओ को युद्धाभ्यास कला मे पारगत किया जाता था।

दक्षिण भारत मे भी कुछ प्रतिष्ठित मुसलमान परिवारो को छोडकर पर्दा का रिवाज नही था। विजयनगर साम्राज्य में भी पर्दा प्रथा केवल शाही परिवार के सदस्यों तक ही सीमित था। मध्यमवर्गीय हिदू परिवारो मे भी पर्दा प्रथा का इतनी कडाई से पालन नही होता था तथा हिन्दुओ मे जन साधारण स्तर पर तो इसका प्रचलन नही के बराबर था। हिदू महिलाए बिना

किसी विशेष प्रतिबध के घर के बाहर जा सकती थी। मुस्लिम औरतो की तरह उन्हे अपने सिर से पैर तक ढके रखने की विवशता नही थी। सिर ढकने के लिए आचल या दुपट्टा पर्याप्त समझा जाता था। समाज के निम्न वर्ग की औरतो पर्दा प्रथा से पूरी तरह से मुक्त थी। उनसे बाहरी कार्यो तथा घरेलू आर्थिक व्यवस्था के हर क्षेत्र मे पति की सहायता करने की अपेक्षा थी। [1]

बेटियो की दशा समाज में हीन समझी जाती थी। जहा पुत्र के जन्मोत्सव को उत्साह से मनाया जाता था, वही पुत्री के जन्म को अशुभ समझा जाता था। राजपूत प्राय कहते थे कि पुत्री के जन्म का दिन उनके लिए अभिशाप स्वरूप है। उनकी मान्यता थी कि पुत्री के कारण उन्हें दूसरो के आगे सिर झुकाना पडता है। यदि किसी स्त्री के लगातार बेटिया होती थी तो उसका दुराव होता था और उसका परित्याग तक कर दिया जाता था। माता के रूप मे तो स्त्री को सम्मान प्राप्त था किन्तु पुत्री के रूप मे प्रायः उन्हे अपमान झेलना पडता था।

बाल–विवाह

उन दिनो कुछ ऐसे रिवाज प्रचलित थे जिनके अनुसार जन्म के बाद आठ वर्षो से अधिक समय तक लडकियो का अपने माता–पिता के घर रहना वर्जित माना जाता था। ऐसे सख्त रिवाज व बहुत कम उम्र मे विवाह सम्पन्न किए जाने से दूल्हा और दुल्हन को अपना मन पसद जीवन साथी चुननेका अवसर नही मिलता था, जिसके कारण वैचारिक मतभेद के चलते उनका वैवाहिक जीवन कलहपूर्ण ढंग से व्यतीत होता था। युवावस्था के पूर्व अर्थात अबोध कन्या का विवाह यदि योग्य वर न मिले तो अयोग्य वर से ही

---

1 मध्यकालीन भारत–एल पी शर्मा (249)

कर देना चाहिए किन्तु उन्हे युवावस्था तक पिता के घर मे नही रहना चाहिए। ये सभी प्रथाए निरीह कन्याओ के प्रति अत्याचार की पराकाष्ठा थी। किन्तु आगे चलकर उनकी स्थिति में कुछ सुधार हुआ। तत्कालीन तुर्क शासकों ने यह आदेश जारी किया कि 14 वर्ष से कम की कन्या व 16 वर्ष से कम के लडके विवाह न करे। उच्च वर्ग के राजपूत परिवारो लडकियो को अपना वर चुनने की स्वेच्छा प्राप्त थी। बहुधा राजपूत स्त्रिया अपने विवाह की शर्ते स्वय रखती थी। राव सरधान की बेटी बारावाई ने यह शर्त रखी थी कि वह उसी नवयुवक से विवाह करेगी जो उसके पिता के राज्य को टोड को पठानों से मुक्त करा देगा। पृथ्वी राज के भाई जयमल ने यह शर्त स्वीकार कर उससे विवाह किया था। एक अन्य उदाहरण मे मोहिल सरदार की सुन्दर कन्या कर्मदेवी ने मदौर के राव के उत्राधिकारी से अपनी सगाई अस्वीकार कर के, युगल के राजकुमार साधु की पत्नी बनना स्वीकार किया था।

सती प्रथा व विधवा की स्थिति

वैदिक काल से ही ये परम्परा चली आ रही थी कि जिस स्त्री का पति मर जाए उसे जीवित रहने का अधिकार नही था, व उसे किसी भी सामाजिक मागलिक समारोहो मे उपस्थित रहने का अधिकार नही था। उसकी जिंदगी बहुत ही कष्टप्रद व अनेक बंधनो से पूर्ण होती थी जिससे उसका सामान्य रूप से जीवन व्यतीत करना उसके लिए एक कठिन परीक्षा की तरह हो जाता था। इन सब स्थितियो के परिणाम स्वरूप ही सती प्रथा का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार की यातना पूर्ण जिंदगी बिताने की अपेक्षा स्त्रियां

सती हो जाना ही श्रेयस्कर मानती थीं। इस प्रथा के अनुसार जिस स्त्री का पति मर जाता था वो उसके मृत शरीर के साथ चिता मे जीवित जल जाती थी। यह एक तरह से जीवित स्त्रियो पर अत्याचार की पराकाष्ठा थी। तलाक और पुनर्विवाह मुसलमानो मे तो आम बात थी लेकिन यह हिन्दुओ मे वर्जित था। कुछ नीच जाति के लोगो को छोडकर विधवा विवाह की प्रथा लुप्त हो चुकी थी सती होने के लिए विवश की जाती थी। वे विधवाए जो पतियो के साथ सती नहीं होती थी, समाज के द्वारा बहुत सताई जाती थी। उनके बाल कटवा दिए जाते थे, जेवर नही पहनने दिया जाता था, ऐसी अभागी विधवाओ को मायके मे रहना पडता था, जहां उन्हें दासी के समान समझा जाता था। विधवा के प्रति उसके परिवार वालों का व्यवहार ठीक नही होता था।

दिल्ली के कुछ सुल्तानो ने हिन्दुओ के बडे समुदाय मे विशेषकर ऊंचे घरानो मे प्रचलित सती की प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया था। हालाकि दक्षिण मे सती की प्रथा स्वेच्छा पर निर्भर थी। परन्तु विजयनगर साम्राज्य में यह प्रथा बहुत व्यापक रूप से प्रचलित थी। शायद वहां के राजाओ ने भी इस पर रोक नही लगाई थी। सभवतया महमूद तुगलक (1325–1351) प्रथम मध्य कालीन शासक था जिसने सती प्रथा पर प्रतिबंध लगाया था। [1] उसके राज्य क्षेत्र मे किसी विधवा का सती होने के पूर्व राजाज्ञा लेनी होती थी। ऐसे कानून थे कि किसी विधवा को सती होने के लिए विवश नहीं किया जाए। यही कानून सभवत. सीदी अलीरईस के समय में भी लागू थे वह सभवत 1553–56 के बीच भारत आया था, उसने लिखा है कि सती होने के स्थान पर सुल्तान के अफसर सदैव यह देखने के लिए मौजूद रहते थे कि

1.मध्यकालीन भारत– डा आशीर्वादी लाल (70–71)

किसी स्त्री को जबरन न जलाया जाए। आगे भी सती प्रथा पर प्रतिबध लगे तथा स्त्रियो को इस अमानुषिक अत्याचार से कुछ राहत मिली। परन्तु फिर भी ये पूरी तरह से समाप्त नही हुए। इसके उदाहरण आज के समाज मे भी यदा कदा मिल जाते है जबकि सती प्रथा को बद कराने के लिए अत्यधिक कठोर कानून है और अपराध सिद्ध हो जाने पर कठोर दड की भी व्यवस्था है तथापि धर्म के ठेकेदारो अवसर प्राप्त होते ही कही न कही आज भी सती प्रथा को बढावा देते है।

विधवा को पति की सपत्ति में से उसका हिस्सा प्राप्त होने का विधान था। यदि किसी स्त्री के सतान है तो पति का धन स्त्री व पुत्र मे आधा भाग मे विभाजित कर दिया जाता था।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पुत्री का भी माता की सपत्ति पर अधिकार होता था यदि किसी स्त्री की मृत्यु हो जाती थी और यदि उसके पुत्र नही है तो कर्ज आदि अदा करने के पश्चात बचे धन की आधिकारिणी पुत्री होती थी। जो धन स्त्री अपने मायके से विवाह के समय (जेवर आदि) पाती थी वह उसका स्त्री धन होता था जिसको अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकती थी।[2] वे तो हुई सम्पत्ति के अधिकारों की चर्चा। अब हम स्त्रियो के तत्कालीन समाज मे व्याप्त अन्य स्थितियों का अवलोकन करेगे।

पत्नी का स्थान

पत्नी के रूप मे स्त्रियो की दशा पति के संबंध के आधार पर तय किया जाता था। जन्म मे लेकर विवाह तक स्त्री अपने माता–पिता के घर

1.याज्ञवल्क्य–स्मृति (I,117)

2.व्यवहार सार (250)

मे रहती थी और वे ही उसकी शादी कर देते थे, विवाह के मामलो में स्त्रियो की इच्छा– अनिच्छा का कोई महत्व नही था, उन्हे भेड बकरियों की एक घर से दूसरे पर बाध दिया जाता था। वे मूक जानवरो की तरह विद्रोह भी नहीं कर सकती थी। विवाह के बाद स्त्रियॉ अपने सास के नियत्रण मे रहती थी। यदि घृणा वश कोई स्त्री अपने घर वालो से विरोध करती या प्रतिक्रया जाहिर करती तो उसके लिए दण्ड का विधान था ऐसी स्त्रियो से बातचीत बन्द करने से लेकर उनके परित्याग तक का विधान था। [1] अलग–अलग प्रकार के अपराध के अलग–अलग दण्ड निश्चित किए गए थे स्मृतियों के अनुसार गम्भीर अपराध मे मृत्यु दण्ड तक का विधान था प्रायश्चित कर लेने पर उन्हे क्षमा करने का भी विधान था। [2] यदि स्त्री घर की बडी बहू होती थी व सास के प्रभाव से अलग रहती थी तो सभी घरेलू मामलो में उसका महत्व या अपने पति के साथ जब तक पत्नी के संबध ठीक हो तो एक मर्यादित आश्रिता के समान रहती थी। हिन्दुओ मे ऐसी मान्यता थी कि कोई भी शुभकार्य स्त्री की उपस्थित व सहयोग के बिना पूर्ण नही हो सकता है क्योंकि वह पुरुष की अर्द्धांगिनी समझी जाती है। दोनों दूसरे का कहना मानते थे हालांकि पति की ही बात सर्वोपरि होती थी। किन्तु इतना होते हुए भी ऊचे घरानों की स्त्रिया विशेषकर राजपूतनिया अपने स्वाभिमान के मामलो में किसी की नहीं सुनती थीं चाहे वो उनका पति ही क्यो न हो। [3] ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के अधिकाश हिन्दुओ का जीवन सुखी था कारण कि पत्नियो को बराबर का स्थान प्राप्त था और समाज में उनका सम्मान था, पुरुष कोई भी कार्य

---

1 पराशरमाधव (II, 324–25)

2 मदनपरिजात (268)

3 एनाल्स एण्ड ऐटिक्युटीडा आफ राजस्थान (कर्नल टाड)

अपनी पत्नी के सहयोग या सहमति के बिना नही करता था। धार्मिक अनुष्ठान हो या घरेलू समारोह हर कार्य मे उसे पति का साहचर्य प्राप्त था। केवल कही–कहीं अपवाद स्वरूप पत्नियो की स्थिति ठीक नही थी परन्तु ऐसा प्राय कम ही दृष्टिगत होता है। निम्न वर्ग मे तो पत्निया पति का साथ घरेलू समस्याओ के अतिरिक्त समाज मे उसके कर्मक्षेत्र अर्थात् जीविकोपार्जन के कार्यो मे सहयोग करती थी।

माता का स्थान

पुत्री, वधु व विधवा के रूप मे नारी की जो भी स्थिति रही हो, किन्तु इतना निश्चित है कि माता के रूप मे उसका स्थान अत्यंत सम्मानजनक था। समकालीन युग मे ऐसे कई अभिलेख प्राप्त होते है, जिससे यह पता चलता है कि कई मुसलमान शासक मॉ की अगवानी के लिए थोडी दूर तक पैदल चल कर जाया करते थे। माता के सामने उपस्थित होने पर कोर्निस, सिजदा और तसलीम से अभिवादन करते थे। अपने जन्मदिन व अन्य शुभ दिन व समारोहो आदि के अवसर पर हिन्दू हो या मुसलमान शासक दोनो समान रूप से आशीर्वाद के लिए राजाकुमार व दरबारियो के साथ माता के पास जाते थे। राज्य मे सर्वोपरि महिला का स्थान माता को प्राप्त था। माता के प्रति राजपूतो से अधिक सम्मान की भावना शायद ही किसी जाति मे ही हो उदाहरणार्थ उनकी महान भावना का द्योतक यह वाक्य कई बार सुनने को मिलता है कि "माता की लाज रखे"। पति की मां (सास) के रूप मे भी उसका स्थान पत्नी से ऊंचा होता था यदि पत्नी सास का कहना नही मानती या उसका अपमान करती थी तो उसे दण्ड का भागी होना पडता था। माता

तथा बहन के रूप मे वे परिवार मे सम्मानीय थी।

स्त्रियो की शिक्षा

उस समय चूकि मुसलमान आक्रमणकारियो का आगमन हो चुका था मुसलमान हिन्दू स्त्रियो को प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे और वे सर्वदा उनका अपहरण करने को तत्पर रहते थे। इस कारण अल्पायु मे ही उसका विवाह होने लगा व हिन्दू समाज मे पर्दा –प्रथा का प्रचलन प्रारभ हुआ। स्त्रियो की शिक्षा पर भी इसका प्रभाव पडा वे स्वतत्रता पूर्वक अपने घरो से बाहर से नही जा सकती थी इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर मे ही किया जाता था। यह सुविधा केवल धनवान व्यक्तियो की पुत्रियों को ही प्राप्त हो सकती थी, क्योकि उनकी सुरक्षा की व्यवस्था समुचित रूप से हो सकती थी। मध्य व निम्व वर्ग की लडकियो की शिक्षा तो बिल्कुल ही नही हो पाती थी किन्तु सम्मानित परिवार की लडकियो को शिक्षा की समुचित व्यवस्था प्राप्त थी। कई ऐसे उदाहरण भी मिलते है जो यह बताते हैं कि उच्च्च वर्ग मुख्यत राजपूत घरानो मे लडकियो को शास्त्र व शस्त्र दोनो की शिक्षा दी जाती थी। लडकियॉ किले की सुरक्षा व आत्मरक्षा के लिए शत्रुओं से घिर जाने पर युद्ध कौशल का प्रदर्शन करती थी कभी–कभी तो ऐसे उदाहरण भी मिलते है कि स्त्रियों द्वारा ही दुश्मनो को पराजय का मुह देखना पडता था। आवश्यकता पडने पर स्त्रियॉ राज कार्य में भी समुचित सहयोग देती थी और कभी–कभी तो राजा केवल नाम–मात्र का होता था और स्त्रियॉ ही राज्य का सचालन सुचारू रूप से चलाती थी ये सब उनके शिक्षित होने के कारण सभव था।

महिला विदुषी तथा प्रशासिका

नारियो को अलग व एकातवास मे रखने के बावजूद मध्यकालीन भारत मे कई श्रेष्ठ लेखिकाए तथा अभूतपूर्व प्रशासन वाली महिलाए हुई है। मीरा बाई, देवल रानी, रूपमति, सलीमा सुल्ताना और जेबुलिन्नसा उस समय की प्रसिद्ध कवियित्रियॉ थी। रघुनाथ अभ्युदय मे मधुरवाणी की लेखिका तथा आध्ररामायण की छदोवद्ध अनुवादिका रामभद्रवाकाव्य पर दबिका परिणयम् की लेखिका तिरमलबा और मारिची परिणयम् नामक प्रेम कथा की लेखिका मोइनागी उस युग की प्रसिद्ध सस्कृत कवयित्रियॉ थी। इनके अतिरिक्त और कई महिलाए इस क्षेत्र मे थी। महाराष्ट्र के स्वामी रामदास की शिष्या अकाबाई और केनाबाई महत्वपूर्ण साहित्यिक विभूतियों मे से थी। कोटा रानी ने कश्मीर के राज्य का सफलता पूर्वक सचालन किया। उसका राज्याभिषेक पति के साथ हुआ था। कोटा रानी के बाद कश्मीर मे यशस्वी, सहधर्मिणी, वीर नारी, शासिका एव सैनिक नेतृत्व करने वाली स्त्रियो की परम्परा का लोप होता है।[1]

स्त्रियो की उपयुक्त दशाओ का अवलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि सभ्रात व उच्च वर्ग की स्त्रियो को छोडकर शेष स्त्रियो की दशा मध्य काल मे शोचनीय थी। बाल विवाह, बहु विवाह, पर्दा प्रथा के चलते उनकी समुचित शिक्षा सम्भव नही हो पाती थी। साथ ही सती प्रथा, जौहर प्रथा, पुत्री की बाल हत्या, बहुपति विवाह, देवदासी तथा वेश्यावृति को बढावा देने वाली सस्थाओ ने स्त्रियो की दशा को कमजोर करने मे ही

---

1 वर्षे पचदशे शुक्ल–दशम्या नमस्तत ।
तारेव नभसो राज्याद्राज्ञी भ्रशमलब्ध सा ।।
जोनराज–कृत राजतरगिणी (श्लोक–306)

योगदान दिया।

मुस्लिम समाज मे भी स्त्रियो की स्थिति अच्छी नहीं थी। मुसलमानो मे बहुविवाह का प्रचलन जन साधारण में भी था और एक मुसलमान कम से कम चार स्त्रियो से विवाह कर सकता था। धनवान व राजपुरूष तो सैकडो की सख्या मे स्त्री दासी रखते थे व उनका शोषण करते थे। मुसलमानो मे पर्दा प्रथा अत्यन्त कठोर थी। उनमे शिक्षा का प्रसार भी कम था जो क्रमश· आज के मुस्लिम समाज भी व्याप्त है। परन्तु मुसलमान स्त्रिया कुछ मामले में हिन्दू स्त्रियों से अच्छी थी। वे विधवा होने पर पुनर्विवाह कर सकती थी, तलाक दे सकती थीं और उनमें सती प्रथा नहीं थी उन्हें अपनी मा बाप की सम्पत्ति मे हिस्सा लेने का अधिकार था। परन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस युग में स्त्रियो की स्थिति खराब थी और स्त्रियो का स्थान 'भोग्या' के रूप में था। कुछ उच्च वर्ग के अपवादों के छोडकर।

परिधान

विभिन्न समुदायो के जन साधारण के वस्त्र प्रायः समान हुआ करते थे। मजदूर और किसान वर्ग के लोग सूती वस्त्र (लंगोट) पहनकर सन्तोष किया करते थे, जिसका कपडा उनके घुटने तक लटकता था। जाडे के दिनो में साधारण लोग सूतीकोट पहनते थे जिनमें रूई भरी होती थी, यह काफी गरम व टिकाऊ होता था। उत्तरी भारत विशेषकर काश्मीर और पंजाब मे रूई भरी टोपी पहनने का प्रचलन था। उस समय सैनिको के लिए विशेष प्रकार का लिबास पहनने का चलन नही था। उनकी पहचान केवल उनके द्वारा

धारण किये गये अस्त्रो–शस्त्रो से ही होती थी। शाही गुलाम कमर बन्द, लाल जूते व 'कुला' पहनते थे। कुछ लोग इतने निर्धन थे कि गर्म कपडे नही रख सकते वे सूती वत्रो या ईश्वर के सहारे जाडे की कडकती रात बिताते थे। सन्तो और योगियो को उनके वस्त्र से पहचाना जा सकता था। वे लोग रेशमी वस्त्रो से परहेज करते थे। मुसलमान सत सिर पर लम्बी दरवेश टोपी तथा पैरो मे काठ की चट्‌टी पहनते थे वे शरीर पर सिले कपडे का लम्बा चोगा पहनते थे। हिन्दू योगी के लिए कमर पर एक लगोटी ही यथेष्ट थी।

उच्च वर्ग का परिधान

उच्च वर्ग के लोग अपने वस्त्रो पर काफी व्यय करते थे अमीर मुसलमान व पठान पायजामा व सलवार पहनते थे तथा अपने कुर्त्ते के ऊपर छोटा सा जैकेट नुमा कोट पहनते थे। काबा या लम्बा कोट जो घुटने तक लटकता रहता था, ऊपरी वस्त्र के रूप में पहना जाता था। धनी हिन्दू भी कुर्ता पायजामा व कुर्ता धोती धारण करते थे व उसके ऊपरी रेशमी दुशाला ओढते थे व सिर को ढकने के लिए पगडी पहनते थे। उस समय कमर पर रगीन व जरी वाले वस्त्र बाधने का चलन था। पुरूष हथियार अथवा कटार आदि लेकर चलते थे। धानिक वर्ग अपने वस्त्रादि पर काफी धन व्यय करते थे, तथा उच्च कोटि के कपडो का प्रयोग करते थे, जिनमे सूती, रेशमी मलमल उनकी आदि प्रकार शामिल थे।

राजा की पोशाक

मध्यकालीन युग मे भी सुल्तान और अमीर मल्लिक और खान

आदि अपने उत्तराधिकारी मुगल बादशाहो और उमराओ की भाति जरी वाले रेशमी मखमली पोशाक पहनते थे। 13 वी शताब्दी के सुल्तानों व अमीरो की कई पोशाको का विवरण इतिहासकार अपनी पुस्तको में करते है।[1] मुस्लिमकाल के प्रारम्भ से कुतुबुद्दीन काल तक हिन्दू तथा मुस्लिम वेशभूषा मे अन्तर नही था। कुतुबुद्दीन के समय मे इरानी वेशभूषा का प्रचार हुआ तत्कालीन समाज मे विभिन्न वर्ग के लोग अपने सामर्थ्य के अनुसार वस्त्रादि का प्रयोग करते थे। जामुरादी– (मोतियों के रंग की पोशाक) जामा–ए–जारबत (जरी या सोने के तारो से बुना हुआ कपडा) कटान–ए–बिरारी, बरकरमान तत्कालीन सस्कृत महाकाव्य राजतरंगिणी मे राजा व सुल्तान के वस्त्रो का उल्लेख किया है। कल्हण ने अपने काव्य मे समाज के प्रत्येक वर्ग स्त्री–पुरुष आदि के वस्त्रो व आभूषणो वर्णन का अपने श्लोको मे किया है।[2] मुस्लिम काल–के प्रारम्भ से कुतुबुद्दीन काल तक हिन्दू–मुसलमान के वस्त्रो मे काफी समानता थी। कुतुबुद्दीन (1373 से 1389) के काल मे ईरानी वेशभूषा का चलन प्रारम्भ हो गया था। सुल्तान स्वय ईरानी वेशभूषा धारण करता था। वह वेशभूषा अरब, ईरान तथा तुर्कीस्तान की शैली मे बनी होती थी। मुस्लिम शासनकाल मे कुलीनो का यही वस्त्र हो गया । हिन्दू राजा राजकीय चिन्ह, छत्र, चॅवर, ध्वजा, पताका एव मुकुट धारण करते थे, वस्त्रो में घेरदार कुर्ता, चूडीदार पायजामा, उत्तरीय तथा पगडी धारण करते थे उनके वस्त्र रेशमी व उच्च श्रेणी के सूत से निर्मित होते थे।

---

1 तारीख–ए–फिरोजशाही (बरनी तथा अमीर खुसरो)

2 कल्हण कृत राजतरगिणी–श्लोक सख्या

(2 165), (3 529) और (3 415) आदि।

शिरोवस्त्र–

पहले की कुला या सुल्तानी काल की लम्बी तातारी टोपी का स्थान पगडी ने ले लिया था। पगडी दोनो समुदायो के लोग सामान्य रूप से धारण करने लगे थे। मुस्लिम सफेद व गोलाकार पगडी बाधते थे जबकि हिन्दूओ मे रगीन ऊची नोकदार पगडी प्रचलित थी।

जूते–जुर्राबे बहुत कम पहनी जाती थी अधिकाश हिन्दू खाली पैर रहते थे। फिर भी बलबन (1265–1287) ने अपने सेवको को जुर्राबें पहनने का आदेश दिया था। कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति के कुछ मुसलमान नमाज मे सधे रहने के लिए जुर्राब का प्रयोग करते थे। उस समय तुर्की जुते का चलन अधिक था जो सामने से नोकदार तथा ऊपर से खुले होते थे। इन्हें आसानी से खोला व पहना जा सकता था। शौकीन लोग विशेषकर दरबारी व कुलीन वर्ग अपने जूते मखमली व जरी के बनवाया करते थे जिसमे रेशम या चमडे के फीते लगते थे, बहुधा ऐसे जूतो पर हीरे जवाहरत टकवाये जाते थे इन्हे हिन्दू व मुसलमान कुलीन वर्ग समान रूप से धारण करते थे जो उनकी सम्पन्नता को दर्शाता था।

महिलाओं की पोशाक

मध्यकाल मे कश्मीर की महिलाये नील, निचोलव, कंचुकी धारण करती थी। मूर्धा पर शीर्षाशकु रखती थीं।[1] उत्तर भारत मे महिलाओ की पोशाक अनेक प्रकार की नही थी औरतो का सामान्य परिधान कमर पर लपेटने व सिर ढकने वाली साडी थी इसके साथ वक्ष पर पहने जाने वाली

1.कल्हण कृत राजतरंगिणी (2 247 और 294)

अगिया थी। सलवार व कमीज मुस्लिम स्त्रियो मे प्रचलित पहनावा था। इसके साथ सिर पर ढकने के लिए चादर या दुपट्टा भी होता था। चूकि उस समय महिलाओ मे पर्दा करना अति आवश्यक था अत मुसलमान स्त्रियाँ बुर्का पहनती थी व हिन्दू मुसलमान स्त्रियों को ओढनी के साथ पीठ पर बद वाली चोली पहने भी चित्रित किया गया है इसमे स्त्रियां घाघरा भी पहने है। जिसमे कसीदाकारी की गयी है। ऐसा परिधान प्राय हिन्दू व राजपूत स्त्रियाँ धारण करती थी। बगाली स्त्रिया कांचुली या चोली पहनती थी जो आधुनिक ब्लाऊज का स्वरूप है। धनी व निम्न वर्ग की महिलायें प्राय अपनी हैसियत के अनुसार परिधानों को धारण करती थी। निम्न वर्ग सस्ते व सूती वस्त्रों का प्रयोग करता था। इसके विपरीत उच्च वर्ग की महिलाएं कीमती व रेशमी वस्त्र जिन पर सोने चांदी के तारो से कसीदाकारी रहती थी पहनती थीं। कुछ औरते उत्तम किस्म की काश्मारी शाल का भी प्रयोग करती थी मध्यकालीन भारत मे पुरूषो की अपेक्षा महिलायें जूतो का प्रयोग अधिक करती थी।

प्रसाधन

'आइन–ए अकबरी' मे सुगधियों (इत्र) तथा इसकी कीमतो की लम्बी फेरहरिस्त दी गयी है। प्राचीन काल से ही लोगों को कई प्रकार के इत्र की जानकारी थी। स्मृतियो के अनुसार लोग समारोह, त्यौहार आदि में सुंगधियो का प्रयोग करते थे। मध्यकाल मे तुर्को के आगमन के बाद इसका प्रलचन और बढा। अन्य सुगधियो मे चदन व केवडा आदि का भी प्रयोग किया जाता था। बाल काले करने के लिए वस्मा और खिजाब, नील तथा अन्य तत्वों को मिलाकर बनाया जाता था। साबुन, पाउडर, क्रीम जैसी प्रसाधन

समाग्रियो के रूप मे घासुल, त्रिफला, उबटन और चंदन चूर्ण का इस्तेमाल होता था। स्त्रियॉ प्रसाधनो द्वारा सोलह श्रृगार करती थी जिसमें स्नान, तेल लगाना, बाल गूँथना, रत्नो से फूलों से वेणी श्रृगार मोतियो से सजाकर बिंदी लगाना काजल लगाना हाथ पैर के नाखून रगना, पान खाना तथा स्वय को फूलमालाओ तथा कर्णफूल, हाट करधनी आदि उत्तम आभूषणों से सजाना आदि मुख्य है। राजतरगिनी मे जोनराज ने भी स्त्रियो के श्रृंगार की चर्चा की है। उसने लिखा है कि महिलाएं आलता लगाती थी। हिन्दू महिलाए अपने केश विभिन्न प्रकार से गूथ कर उसमें सोने–चांदी के कांटे लगती थी। हिन्दू स्त्रिया सिर पर टीका लगाने व मांग भरने को शुभ मानती थी। आंखो में काजल लगाया जाता था। उच्चवर्ग की स्त्रियॉ दंतमध्य को लाल करने के लिए मिस्सी तथा पलको को रगने के लिए सुरमा का इस्तेमाल करती थी हाथ–पांव को रगने के लिए 'दिना' का इस्तेमाल होता था। यह नाखून रंगने के लिए भी काम आता था। मुंह पर लगाने के लिए गलगुना और गाजा (लाल) रग के प्रयोग का उल्लेख है। काठ, धातु और सींग की बनी कंधिया प्रयोग में लायी जाती थी।

आभूषण

मध्ययुग में गहनो का प्रलचन बहुत अधिक था। स्त्रियां भारी गहने धारण करने के लिए लालायित रहती थी। वे अपने शरीर के प्रत्येक अंग को विभिन्न प्रकार के गहनो से ढक लिया करती थी। उस समय तक जेवरो के मामले मे समाज बहुत उन्नत था और गहनो की भिन्न–भिन्न प्रकार कलाकारी अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त थी। गहनों मे चाक, मांग, कतबिलादर

(माग–टीका) सेकर और बिदुली सिर और ललाट पर धारण किये जाने वाले जेवर थे। कर्णफूल, पीपल, पत्ती, मोर, भावर, बाली व झुमके आदि कानो मे पहने जाने वाले गहने थे। नाक मे पहनने वाले गहनो की शुरूआत मुसलमानो ने की थी, जिनमे नथ और बेसर का प्रचलन शुरू हुआ। लौग के रूप मे नाक के बाये भाग मे हीरा या जवाहिरात पहना जाता था। गले का हार सोना, मोती या अन्य कीमती पत्थरो का बना होता था, जिसमे सोने के दानों से युक्त पाच या सात लडिया (पचलडी या सतलडी) होती थी। हाथ के ऊपरी भाग मे बाजूबद या तोडे पहने जाते थे गजरा, कगन, (स्वर्ण आदि) कलाई के आभूषण थे, शेष कलाई चूडी से (काच) भरी होती थी। क्षुद्र खटिका और कटि–मेखला सोने की पेटी के रूप मे धारण किये जाने वाले जेवर थे। ऊगलियो मे अगूठिया पहनी जाती थी। पायल पाव का गहना था इसके अतिरिक्त घुघरू भी पाव मे पहने जाते थे। आभूषण के रूप में पैरो के अग्रभाग मे, बिछुआ तथा आवट धारण किये जाते थे। ये सभी आभूषण स्वर्ण, हीरे, जवाहरत व कीमती पत्थरो के होते थे।

पुरूषो के आभूषण

मुसलमान पुरूष आभूषणो मे ताबीज व कवच पहना करते थे। हिन्दू पुरूष (उच्च वर्ग के) मणिमुक्ता सज्जित मुकुट धारण करते थे। राजपूत हाथो मे आभूषण धारण करते थे। हिन्दू कानो मे बाली तथा ऊंगलियों में अगूठिया धारण करते थे। सुल्तान कीमती पत्थरो तथा माणिक, हाथीदांत निर्मित आभूषण धारण करते थे। अबुल फजल ने पुरूष सजावट का विवरण इस प्रकार दिया है 'उचित रूप में रखी गयी दाढी' साफ व धुला हुआ शरीर,

ललाट पर तिलक, शरीर पर सुगधित तेल तथा इत्र लगा हुआ, कानो मे स्वर्णबाली, उचित पोशाक (काबा) जिसकी गाठ बाईं ओर से हो, हाथ मे म्यान डाली हुयी तलवार, कमर मे बंधी कटार, ऊगलियो मे अंगूठी पैरो मे जूते तथा मुह मे पान की गिल्लौरी। औरगजेब को छोडकर सभी मुगलबादशाह महत्वपूर्ण अवसरो पर अपने को कीमती जवाहरातो से सजा कर प्रस्तुत होते थे। उच्च वर्ग हिन्दू समारोहादि के अवसर पर रेशमी वस्त्रो के साथ गले मे सोने व मोतियो की माला भी धारण करते थे।

सुनार सदैव गहने गढने मे व्यस्त रहते थे। उत्तर भारत में हीरे जवाहरत के गहने अधिक कुशलता से बनते थे। सोने और चांदी के काम मे गुजराती हिन्दू अपनी कुशलता के लिए मशहूर थे। वे लोग अपने आदमियो को बहुमूल्य रत्नो की खरीद के लिए गोलकुण्डा तथा सुदूर स्थान पेरू तक भेजा करते थे। एक चतुर कारीगर की फीस 64 दाम प्रति तोला थी। निष्कर्ष ये कि उस समय स्त्री व पुरूष समान रूप से आभूषणो के शौकीन थे, वे विभिन्न प्रकार के जेवरो से स्वय को सजाया करते थे।

खान–पान

साधारणत हिन्दुओ मुसलमानो का दैनिक भोजन एक प्रकार का ही था। किन्तु मासाहारी भोजन जो मुसलमानो का प्रिय था, भावनात्मक आधार पर मध्य और दक्षिणी भारत के हिन्दुओ के द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। विदेशी यात्रियो का कथन था कि हिन्दू मांसाहार की कम जानकारी रखते है तथा वे वैसा भोजन नही करते जिसमे रक्त हो। जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, वैश्य तथा तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्य भारत की

कुछ अन्य जातियो पर ही लागू होता है। क्योकि स्मृतियो मे विहित व निषिद्ध भोजन के प्रकार का वर्णन है। मासाहार को स्मृतियो मे कुछ जगह खाद्य भोजन का स्थान दिया गया है। उनके अनुसार सम्मानित अतिथियो के सम्मान मे भोज का आयोजन है तो ब्राह्मण वहा पर निर्मित मासाहार भोजन का प्रयोग कर सकते है। [1] एक अन्य स्मृति के अनुसार ब्राह्मण इस प्रकार के समारोह मे सामिष भोजन ग्रहण तो कर सकते है, परन्तु प्रायश्चित के बाद। [2] पजाब, बगाल और काश्मीर मे ब्राम्हण भी मास, मछली खाते थे। आर्थिक परिस्थितियो के कारण हिन्दुओं का बडा समुदाय निराभिष भोजी था।

प्राय मध्ययुगीन साधारण व्यक्ति अन्न, दूध से बनी वस्तुओं का उपयोग करते थे इसके अतिरिक्त वो लोग भोजन मे फल, सब्जी, मास व विभिन्न प्रकार के पकवान ग्रहण करते थे। सूखे मेवे में नारियल, राजतरगिणी मे कमल गट्टा के प्रयोग का वर्णन मिलता है, इससे ज्ञात होता है कि कश्मीरी इस फल की जानकारी रखते थे। [3] खजूर मखाना, कमल गट्टा, अखरोट पिस्ता आदि होते थे। जल को ठण्डा करने के लिए बर्फ का प्रयोग होता था। कश्मीर में दूध की प्रचुरता थी, लोग इसका सेवन खूब करते थे। दूध के बहुतायत का वर्णन जोनराज ने किया है। उसने लिखा है कि तत्कालीन युग मे गोपालन का कार्य प्रमुख था और लोग अपने पशुओ की सेवा उत्तम प्रकार से करते थे जिससे उन्हें अत्याधिक मात्रा मे दूध प्राप्त होता था। जोन राज ने अपने समय के खेतो की समुचित दशा का वर्णन

---

1 मदन पारिजात (338)

2 गृहस्थ रत्नाकर (380–81)

3 तयोश्शक्तयोर्जे तुमुपपत्ति परस्परम्।
श्रृगाटानि परीक्षार्थं गोरग्रे व्यकिरन्नृपः।
जोनराज कृत राजतरंगिणी–(श्लोक 791)

किया है। तत्कालीन जनसाधारण विभिन्न प्रकार के अनाज का इस्तेमाल अपने भोजन मे किया करते थे। उच्च वर्ग शिकार करते थे और शिकार से प्राप्त पशुओं का सेवन भोजन मे करते थे। मास व सुरा उच्च वर्ग का, शासक वर्ग का भोजन था। फल का सेवन भी भोजन का अग था। मुसलमान रईस उत्तम भोजन के शौकीन थे बलबन के समय मे मनपसद भोज्य पदार्थों मे मासाहार का वर्णन है। प्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'पद्मावत' के लेखक मलिक मोहम्मद जायसी ने खिलजी के समय सामिष भोजन का विवरण इस प्रकार दिया है, कि इनमे कबूतर, हिरण, बारहसिगा, वनमृग, बटेर, सरियल, सारस आदि के मांस से तैयार लजीज भोजन होते थे। उच्च वर्ग के लोग अपने भोजन मे गेंहू का आटा चावल तथा उबली हुयी सब्जियो का इस्तेमाल करते थे। पूडी व लूची भी उत्तरप्रदेश, बिहार, उडीसा में विशेष लोकप्रिय थी।

निराभिष भोजी होनेके कारण हिन्दू प्राय- दाल दही, मक्खन, दूध तेल आदि से बने व्यंजनो को अधिक पसद करते थे। वे चावल के साथ बदाम; किशमिश आदि मिलाकर मीठा पुलाव बनाते थे, जिसका प्रचलन विशेष समारोह मे होता था अबुल फजल ने 'आइन ए अकबरी' में तत्कालीन सामिष व निरामिष व्यजनो का विवरण दिया है। मिष्ठान मे हलुआ, सिंवई तथा शक्कर मिश्रित फालूदा का प्रचलन था। रईसो के भोजन में शामिल किये जाने वाले कई प्रकार के व्यंजनों का परिचय 'असफखा' द्वारा, 'सर टायस' को दिये गये भोज तथा अहमदाबाद के गर्वनरो द्वारा 'मनडेस्ली' को दिये गये भोज जिनमे पचासो प्रकार के सामिष व निरामिश व्यंजन शामिल थे, मध्य युग मे मिलता है। बगाली कवि मुकुदराम के द्वारा आलीशान भोज तथा सुस्बादु

निरामिष व्यजनो का वर्णन यह प्रमाणित करता है कि उच्च वर्ग के हिन्दु मे यह सब काफी प्रिय था तथा यह भी प्रमाणित होता है कि हिन्दू निरामिष भोजन का प्रयोग अधिक करते थे। जनसाधारण हिन्दू व मुसलमान दोनो उत्तम पदार्थो पर अधिक व्यय करने की स्थिति मे नही थे अत वे साधारण भोजन से ही सन्तोष कर लेते थे। खिचडी इस वर्ग का प्रिय भोजन होता था जो दाल चावल को मिलाकर पकाया जाता था। दक्षिण मे लोगों का मुख्य भोजन चावल था, गुजराती लोग, चावल व दही पसद करते थे। जोन राज ने काश्मीरियो के भोजन के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए उबले चावल तथा नमकीन सब्जियो की प्रमुखता बतायी है जिसमें करम (एक प्रकार का साग) के पत्ते भी शामिल होते थे। उत्तर भारत के लोग दैनिक भोजन में गेहू, ज्वार बाजरा की रोटियो का सेवन करते थे। मध्य वर्गीय निम्नश्रेणी के लोग प्राय दिन मे तीन बार भोजन करते थे। गरीब लोग भी अपने दो बार के भोजन के मध्य जलपान के रूप चने तथा भुने अनाज का इस्तेमाल करते थे।

साधारण लोग मिट्टी के बर्तनों का, पत्तों से बने पत्तल को ही थाली के समान प्रयोग करते थे। राजाओं या धनी व्यक्तियों के यहां भोजन सोने चादी के बर्तनो में रखकर लाया जाता था। मुसलमानो के रसोई मे हिन्दुओ जैसी स्वच्छता नही रहती थी, वे सूअर का मास छोडकर कभी–कभी कुछ भी पका लेते थे। जमीन पर दस्तरखान बिछा कर उस पर खाना परोस दिया जाता था और पूरा परिवार एक साथ बैठ कर भोजन करता था, परन्तु हिन्दुओ में ऐसा नहीं था, पहले पुरुष वर्ग भोजन करते थे उनका भोजन पूर्ण हो जाने पर ही स्त्रियॉ भोजन करती थीं। 'अबुल फजल' के 'आइने–ए–अकबरी' के शाहीं बावर्चीखाने में भोजन बनाने तथा वहां से भोजन परोसने की

विधि और विषाक्त भोजन से बचाव के तरीको का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है।

सुरा एवं मादक द्रव्य

राजतरगिणी मे भी सुरा के प्रयोग का वर्णन है। उस समय मधपान शासक वर्ग मे बहुत लोकप्रिय था। [1] स्मृतियो के अनुसार मध्य युग मे सुरा तीन प्रकार से प्रयोग मे लायी जाती थी। पयस्ती–जो चावल से बनता था। गौडी– जो चीनी के गाढे चाश्नी से तैयार होता था। माधवी– ये फूलो के रस या शहद द्वारा प्राप्त होता था। [2] ये सभी प्रकार ब्राह्मणो के लिए प्रतिबन्धित थे। अन्तिम दो का सेवन क्षत्रिय व वैश्य कर सकते थे और शूद्रो के लिए किसी भी प्रकार के सुरा का निषेध नही था। पराशर माधव ने तो मद्य के ग्यारह प्रकार बताये है। [3] उसमे ब्राहमण पर मद्यपान के लिये रोक लगायी गयी है और शेष जातियो के पीने पर कोई रोक नही है। हमारी स्मृतियो मे स्त्रियो के सुरापान पर भी रोक लगाने की बात कही गयी है। प्राचीन काल मे तो महिलाये भी सुरापान करती थी परन्तु मध्य युग में इस पर प्रतिबन्ध लगाया गया और औरतो के मद्यपान को निषिद्ध कर दिया गया। [4] मदन पारिजात व गृहस्थ रत्नाकर के अनुसार प्रथम तीन जातियों की स्त्रियो को सुरापान नही करना चाहिए शुद्र स्त्रियो को मद्यपान के रोक का कोई

---

1 योगिनी नायिका दूरात् परिज्ञाय नृपात्मजम्।
साशिषं शीधुचषकं प्रहिणोन्मन्त्रित तत ।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (श्लोक–348)

2 गृहस्थरत्नाकर (393–95)

3 पराशरमाधव (III 409–13)

4 पराशरमाधव (I–509)

विधान नही है।[1]

मध्य कालीन समय मे प्रयोग की जाने वाली मुख्य मादक वस्तुओ मे शराब, अफीम, भाग और तबाकू उल्लेखनीय है। पान, चाय और कहवा को भी इसी श्रेणी मे रखा जाता था। जन साधारण सामान्यत मादक द्रव्यो के सेवन को बुरा मानता था, इसे दुर्गुण तथा पाप भी समझा जाता था। अलाउद्दीन खिलजी जैसे सुल्तानो तथा सभी मुगल बादशाहो ने मद्य निषेध का आदेश दिया था।

देशी मद्य की मशहूर किस्मों मे 'ताडी', 'नीरा', 'महुआ', 'खेरा', 'बद्यवार' और 'जागर' का नाम था। कुछ उत्तम किस्म की शराब विशेषकर पुर्तगाल व फारस से मगाई जाती थी। अफीम का उपयोग बहुत से लोगो द्वारा विशेषकर मुसलमानों व राजपूतो द्वारा किया जाता था। युद्ध के समय राजपूत अफीम की मात्रा दुगुनी कर देते थे जिससे इनमें लडने की क्षमता अधिक आ जाए। पुर्तगालियो द्वारा 15वी शताब्दी के अत मे तंबाकू भारत लाया गया, इसके बाद ही तबाकू भारत मे जन सामान्य मे लोकप्रिय हो गया। कुछ ही वर्षो मे तंबाकू पीने की आदत लोगो में इतनी प्रचलित हो गई कि इसके नुकसान देह प्रभाव से लोगों को बचानेके लिए बादशाह को निषेद्याज्ञा जारी करना पडा, परतु इस कानून का जनता पर कोई असर नहीं हुआ लोगों की तबाकू की आदत पूर्ववत् बनी रही जिसका निरन्तर प्रयोग आज के समाज में भी जारी है। इटालवी यात्री 'मानुषी' ने लिखा है कि अकेले दिल्ली मे तबाकू पर लगाई गई चुगी से प्रतिदिन 5000 रुपए प्राप्त होते थे।

उन दिनो चाय और कहवा का इस्तेमाल पेय के रूप में नही

बल्कि नशे की तरह किया जाता था। इसका प्रयोग लोग बडी सख्या मे करते थे, विशेषकर कारोमडल तट क्षेत्र मे यह अधिक प्रचलित था।

रीति–रिवाज

तत्कालीन साहित्य मे उपलब्ध छुटपुट प्रमाणो से ऐसा विदित होता है कि उस समय भी हिन्दू व मुसलमान दोनों समुदाय अपने रीति रिवाजो का पालन करते थे जैसे आज करते है। हिन्दूधर्म में व्यवस्थापित सोलह सस्कारो मे केवल छ संस्कार नामश- जातकर्म, नामकरण, चूडाकरण उपनयन और विवाह तथा कुछ अन्य संस्कारो का पालन अधिकांश हिन्दू करते थे।

जन्म संस्कार व अन्य संस्कार

'अबुल फजल' ने जन्म संस्कार के बारे में विवरण देते हुए लिखा है। कि इसमे घृत और मघु मिलाकर सोने के छल्ले से शिशु के मुंह मे डाला जाता था। बंगाल में महिलाए नवजात शिशु की दीर्घायु की कामना करती हुई उस पर हरित तृण तथा चावल न्यौछावर करती थी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रामचरित मानस' मे तुलसीदास ने शिशु जन्म के तुरंब बाद 'मुखश्राद्व' का किया जाना बताया है। जिसमे ब्राहमणों को स्वर्ण, गाय, थाल और गहने दान स्वरूप दिए जाते थे। शिशु के जन्म के बाद ही जन्मकुंडली बनाये जाने की प्रथा थी। चालीस दिनों की अवधि समाप्त होने पर नामकरण संस्कार होता था। बगाल में दही, दूध और हल्दी मिलाकर शिशु के ललाट पर तिलक लगाने की पद्धति प्रचलित थी।

बच्चे की स्वाभाविक रुचि जानने के लिए इसी अवसर पर एक रिवाज प्रचलित था, जिसके अनुसार बच्चे के सामने धान, भात, मिट्टी, सोना, चॉदी आदि कई वस्तुए रख दी जाती थी और यह देखा जाता था कि वह किसे हाथ लगाता है। इससे बच्चे के चरित्र का, रुचि का आकलन किया जाता था। यह रिवाज बगाल व उत्तर भारत मे प्रचलित था। अन्नप्राशन सस्कार (बच्चे को पहली बार अन्न से निर्मित ठोस आहार खिलाने की विधि) बालक के छ· मास का हो जाने पर किया जाता था। 'कविसूरदास' के अनुसार इस संस्कार मे खीर, मधु और घी बालक के सामने परोसा जाता था जिसे उसका पिता धार्मिक अनुष्ठान के बाद खिलाता था। मुंडनसस्कार तीन वर्ष के पूर्व नही किया जाता था। इसमे एक चोटी छोडकर सिर के बाल काट दिए जाते थे। उसी दिन बच्चे के कान भी छेद दिए जाते थे, जिसे कनछेदन सस्कार कहते थे। परन्तु यह सभी जातियो में प्रचलित नहीं था। आठ वर्ष की उम्र मे जनेऊ या उपनयन सस्कार बहुत से ब्राह्मणो की उपस्थिति में किया जाता था। जनेऊ मे तीन सूत होते थे, जिनमे प्रत्येक सूत्र तीन भागों को मिलाकर बनाया जाता था। ऐसा जनेऊ बालक के बाएं कंधे पर लटकाया जाता था, जिसका दूसरा छोर दाए हाथ मे लपेट दिया जाता था। इसके तीन सूत त्रिदेव– ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक है तथा सफेद रंग पवित्रता का प्रतीक है। पवित्र जनेऊ को धारण करने के बाद बालक विद्याध्ययन प्रारंभ करता था। विद्याध्ययन प्रारंभ करने से पहले गुरु उसे मत्र (गायत्री) देते थे। इस अवसर पर ब्राहमणो व गरीबों को दान दिया जाता था। छात्र जब अध्ययन समाप्त कर के घर आता था तो समापवर्तन संस्कार किया जाता था।

मुसलमानो मे सतान के रूप पुत्र प्राप्ति की प्रबल इच्छा रहती थी। अमीर परिवारो में पुत्र जन्म के समय के मनाये जाने वाले उल्लासपूर्ण समारोहो का विवरण इतालवी यात्री मानुसी ने दिया है। यह प्रथा थी कि जन्म के तुरत बाद शिशु के मुख मे शहद व बाद मे दूध दिया जाता था 'अजान' या 'मुसलमानी' प्रार्थना के स्वर शिशु के कानो में डाले जाते थे। जन्म कुडली बनाने की हिन्दू प्रथा मुसलमानों ने भी अपनाई। शिशु के जन्म के दिन ही उसका नामकरण सस्कार होता था तथा दादा द्वारा चुना हुआ नाम रखने की प्रथा थी। मानुसी ने छठे दिन होने छठी समारोह का वर्णन भी किया है। रिवाज था कि नहाने के बाद बालक को किसी संत द्वारा पहने गए पुराने कपडे की कमीज पहनाई जाती थी। अकबर का पहला कपडा संत सैयद अली शिराजी की पोशाक से तैयार किया गया था। सातवें दिन 'अकिकाह' अवसर पर लडके के लिए दो तथा लडकी के लिए एक बकरे काटे जाने की प्रथा थी। अबुल फजल ने मुगलो के द्वारा अपनाए गए तुर्की रिवाजो का उल्लेख किया हैं, जब बच्चा चलने लगता था तो यह रिवाज था कि बाबा या पिता अपनी पगडी से बच्चों को धक्का मार कर गिरा दे। बालक के चार वर्ष और चार माह का हो जाने के पश्चात् 'विसमिल्लाह' या 'मकतब' नामक धार्मिक समारोह किया जाता था, इस समारोह के अवसर पर बालक की शिक्षा प्रारम्भ होती थी। 'खतना' या 'सुन्नत' समारोह भी बहुत धूमधाम से मनाया जाता था। इसके बाद उसका विवाह सस्कार होता था। इसका उल्लेख विवाह नामक सस्कार के अतर्गत इसी ग्रन्थ में वर्णित है।

वर वधू का चुनाव मूलत माता– पिता द्वारा किया जाता था। लडको की बात तो कुछ सुनी भी जाती थी पर लडकियो को कुछ भी कह

पाने का अधिकार नही था। इस मामले मे उच्च घराने की लडकियां अपवाद स्वरूप थी। उन्हे इस मामले मे पूरा अधिकार प्राप्त था, और तो और कभी–कभी प्रेम विवाह भी करती थी। [1]

विवाह–सस्कार

हिन्दू व मुसलमान दोनो के विवाह समारोह आजकल के ही तरह थे या हम यह कह सकते है कि मध्ययुग से चली आ रही विवाह परम्परा आज भी कायम है। जब विवाह सबध के लिए दोनो पक्ष राजी हो जाते थे तो ज्योतिषियो द्वारा निश्चित किसी शुभ तिथि मे सगाई की रस्म होती थी। इसमे वर के ललाट पर तिलक लगा कर उसे भेट आदि दिया जाता था। इसे वररक्षा भी कहते थे।

हालाकि हिन्दुओ मे विवाह के धार्मिक कृत्यो मे जाति समूह और प्रात के अनुसार काफी अतर था किन्तु धर्मिक संस्कारो का सामान्य स्वरूप सर्वत्र एक जैसा था। जैसा कि 'अबुल फजल' ने लिखा है कि यह बहुत हद तक वैदिक कालीन पद्धति की तरह ही था। 'रामचरित मानस', 'सूरसागर' और 'पद्मावत' जैसे समकालीन साहित्यिक ग्रथो मे इन समारोहो का वर्णन मिलता है। दूल्हे के साथ सजी बारात दुल्हन के घर जाती थी। दूल्हा– दुल्हन के द्वारा एक दूसरे को जयमाल पहनाया जाना, अग्नि कुड में आहुति देना, विवाहित युगल का अग्निकुड के चारो तरफ सात फेरे लगाना (सप्तपदी) कन्यादान अर्थात् पिता द्वारा दूल्हे को कन्या सौंपना तथा पति पत्नी के रूप मे

---

1 सम श्रीकोटया देव्या मूर्तयेव जयश्रिया।
तदोदयनदेव त कश्मीरक्ष्मामलम्भयत् ।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (श्लोक 223)

वापस लडकी का पति के घर आना विवाह के महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य थे। ये धार्मिक अनुष्ठान पुरोहित के द्वारा वेद मन्त्रोच्चार से पूर्ण होते थे, जिससे वर–वधू को ईश्वर का आशीर्वाद मिलता था। वर तथा उसके सबंधियो को वधू का पिता नकद, स्वर्ण तथा वस्त्र के रूप मे उपहार देता था।

मुसलमानो मे विवाह सस्कार का प्रारम्भ 'सचाक' (वधू के घर, वर पक्ष द्वारा चार मूल्यवान उपहार और मेहदी) भेजने से होता था। विवाह का अनुष्ठान 'काजी' द्वारा प्रतिपादित होता था। प्रार्थना तथा मेहर की घोषणा से शादी की रस्म पूरी होती थी। इसके पश्चात् दूल्हा व दुल्हन के संबधी उन्हे मुबारकबाद देते थे। विवाह समारोह वर–वधू के लिए खुदा से दुआ मागने तथा कुरान शरीफ के पाठ से पूरा होता था।

भारत मे विवाहोत्सव सदैव खर्चीला समारोह रहा है। कई विदेशी पर्यटको ने इस अवसर पर होने वाले धूमधाम, मूल्यवान उपहारो की भेंट आतिशबाजी, सगीत, नृत्य आदि का जिक्र किया है। एक सामान्य साधन वाले हिन्दू को भी विवाह मे चार पाच हजार रुपये खर्च करने पडते थे। किन्तु साधन सपन्न व्यक्ति को चालीस से पचास हजार या इससे अधिक तक खर्च करने पड जाते थे। बगाल के कुछ व्यापारियो को अनेक मूल्यवान उपहारो समेत लाखो रुपये तक व्यय करने पडते थे। इसके विपरीत कभी–कभी अपवाद स्वरूप कोई–कोई विवाह बडे सादे समारोह मे भी सम्पन्न होते थे। ऐसे विवाहो मे उपहारो का कोई आदान–प्रदान भी नही होता था। इस प्रकार के विवाह आदर्श विवाह माने जाते थे।

मृतक सस्कार

हिन्दुओं मे अतिम सस्कार का बहुत महत्त्व था क्योंकि उनके यहॉ इस लोक से परलोक को अधिक मान्यता दी जाती है। इसके मुख्य अनुष्ठान दाहसस्कार, उद्कर्म, अशौच, अस्थि सचयन, शाति कर्म और सपिण्डी कर्म आदि थे। जोनराज ने राजतरगिणी मे भी पिण्डदान कर्म उल्लेख किया है। [1] हिन्दुओ मे पिण्डदान व तर्पण का विशेष महत्व होने के कारण इन सस्कारो को विधि–विधान द्वारा किया जाता है। [2] 'अबुल फजल' ने कुछ वर्गो का उल्लेख किया है, जिनके लिए दाह संस्कार वर्जित था। धर्मशास्त्रों के अनुसार छोटे बच्चो व तपस्वियो के लिए समाधि (जिसमे जल समाधि की भी व्यवस्था थी)।

ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओ में सामान्य धर्म विहित व्यवस्था का पालन किया जाता था जिसके अनुसार सताप अवधि मे (जो जाति, उम्र सबध आदि के अनुसार एक से दस दिन या महीने तक होता था।) हजामत कार्य करना आदि वर्जित था। इसी विधि के अनुसार तीन दिन तक शोक संताप की अवधि मानी जाती थी, जिसमे भूमि पर सोने, केवल दिन मे खाने का विधान था। गहरे रग के व अच्छे वस्त्रो का परहेज रहता था। स्त्रियॉ सफेद वस्त्र धारण करती थीं। जातिभेद के अनुसार चार से दस दिन तक शोक–सचयन कार्य होता था, जिसमे अवशेष राख तथा हड्डी को एकत्र कर नदी मे प्रवाहित कर दिया जाता था शोक की अवधि तेरहवे दिन समाप्त होती

---

1 स नेत्रशुक्तिमुक्ताभिर्मुक्ताभिर्वाष्पवीचिभि ।
श्रुत्वा तत्र पितुर्मुत्यु निवापाजलिमार्पयत्।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (श्लोक ~~380~~ 479)

2 वही –श्लोक ~~(479)~~ 380

थी। 'अबुल फजल' के अनुसार श्राद्ध मे मृतक की ओर से दान देने का कार्य सम्पन्न होता था, यह साधारणत. मृत्यु के एक वर्ष बाद होता था या तो लोग अपनी सुविधा व आवश्यकतानुसार तेरही सस्कार के साथ ही कर देते थे। 'आइने–अकबरी' मे इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है। हिन्दुओ के अनुसार मृतकसस्कार मे किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों से मृत व्यक्ति की आत्मा को शांति व परलोक मे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

शोक संबंधी मुसलमानी रस्में

हिन्दुओ के समान ही मुसलमानो के भी मृत्यु सस्कार सबंधी रिवाजों मे मध्यकालीन युग मे पूर्ववर्ती युग से काफी अतर आ गया था। मृत्यु शय्या के निकट कुरान के 'यासीन अध्याय' का पाठ किया जाता था तथा मरणासन्न व्यक्ति के मुख को मक्का की ओर फेर दिया जाता था। उपलब्ध होने पर मक्का के 'जमजम कूप ' का पवित्र जल या शर्बत पिलाया जाता था जिससे शरीर से प्राण वायु के निकलने में सुविधा हो। मुसलमान अपने शवों को हिन्दुओ की भांति जलाते नही थे वरन् कब्र मे गाड देते थे। जोनराज ने भी इसका वर्णन किया है। [1] मुसलमानों का मृतक संस्कार गाडने से होता है। गाडने पर शव मिट्टी से आच्छादित हो जाता था। चालीस दिनों तक शोक मनाया जाता था। अपने प्रिय जन की मृत्यु पर सिर मुंडवाने की हिन्दू प्रथा को मुसलमानो ने भी अपनाया। शोक–अवधि मे मृतक के सबंधियो द्वारा जमीन पर सोने का रिवाज था। शोक की समाप्ति चालीसवें दिन होती थीं।

---

1 शत्रुकीर्ण शिलाराशिच्छन्नो डामरलौलक।
यवनप्रेतसस्कारान्न विपद्यप्यहीयत्।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (476)

जब सभी सबधी कब्र पर जाते थे और मृतक के नाम पर गरीबो में खाना, कपडा व पैसे बाटते थे। मृत्यु की वार्षिकी उपयुक्त रूप से मनाई जाती थी। वार्षिकी मनाने का रिवाज मुसलमानो ने हिन्दुओ से सीखा। मृतक के सबधियो की स्थिति के अनुसार खाना तैयार होता था तथा फातिहा पढे जाने के बाद उसे गरीबो मे बाट दिया जाता था। अमीर लोग अपने संबंधियो की कब्र पर खूब रोशनी करते थे। साधारण लोग मृतक के कब्र पर कुछ दीप भर जलाते थे। सतों व पीरों की कब्र या दरगाह अमीरों के द्वारा उदारतापूर्वक बनवाई जाती थी तथा वहॉ पर उनके मानने वालों दु:खी व निराश व्यक्तियो की भीड लगती थी तथा वे संत के प्रभाव से अपनी मुरादे पूरी करने की मन्नते मानते थे।

मनोरंजन के साधन

मध्यकालीन समाज में मनोरंजन के साधनो में खेल–कूद, द्वन्द्व युद्ध शिकार चौपड, व ताश के खेल अमीरों–गरीबो दोनों में सामान्य रूप से प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त हिन्दू–मुसलमानो के विभिन्न त्यौहार और उत्सव भी मनोरजन के साधन थे। हिन्दू, होली, दीवाली, दशहरा, शिवरात्रि बसत जैसे अनेक त्यौहार मनाते थे और मुसलमान ईद, शब्बेबरात, नौरोज आदि मनाते थे।

जोनराज की राजतरंगिणी में शिवपूजा का वर्णन है। [1] कश्मीर के जन साधारण में शिवरात्रि का महत्त्व बहुत अधिक था और वो उस दिन

---

1 तुषार–लिग–पूजाभि कृतार्थीकृत्य वासरान्।
भौट्टदेशान्निजं देशमागच्छद्वीतभीर्नृप ।
जोनराजकृत राजतरंगिणी (श्लोक–240)

को बहुत पवित्र मानते थे। ये त्यौहार पूरे देश मे एक समय पर मनाये जाते थे, किन्तु इनके मनाये जाने के ढग मे भिन्नताए रहती थी। भारत मे हिन्दूओं के और मुसलमानो के एक–दूसरे के सम्पर्क मे आने के कारण त्यौहार मनाने के ढग पर दोनो सस्कृतियो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। ऐसे अवसरो पर सजावट, रोशनी, आतिशबाजी, जुलूस तथा सोने–चॉदी और जवाहरातो के प्रदर्शन होते थे।

होली हिन्दू के प्रमुख त्यौहारो मे से एक है चूकि भारत एक कृषि प्रधान देश है अत यहॉ के सभी त्यौहार प्रमुख फसलो के तैयार होने के समय मे खुशी के प्रतीक स्वरूप मनाये जाते थे। होली का त्यौहार गेहूॅ के फसल के तैयार होने की प्रसन्नता मे मनाया जाता था। इसमे लोग एक–दूसरे पर रग डालते थे और आग जलाकर उसके चारो तरफ गाते–बजाते थे। होली–रंगो भरा मस्ती का त्यौहार था। यह फागुन के महीने मे मनाया जाता था। लोग अपनी वर्षों पुरानी दुश्मनी को भूलकर एक–दूसरे के घर जाते थे और अबीर लगाकर गले मिलते थे। दूसरा त्यौहार रक्षा बधन था । यह सावन मास की पूर्णिमा को मनाया जाता था। इसमे बहने भाइयो के हाथ में सूत व रेशम का धागा बाधती थी और माथे पर टीका लगा कर मगल कामना करती थी। राखी बधवाने वाले भाई का कर्त्तव्य बहन की मर्यादा की रक्षा करना होता था। पुरोहित राजा या अपने यजमानो की मगल कामना के लिए उनकी दाई कलाई मे राखी बाधते थे।

विजयदशमी जो दशहरा के नाम से अधिक प्रसिद्ध था, क्षत्रियो के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण त्यौहार था, यह क्वार के मास में भगवान राम द्वारा राक्षस रावण पर विजय की याद मे मनाया जाता था। आजकल की तरह

ही यह पूरे देश मे मनाया जाता था तथा नाटक मडलियॉ राम–लीला प्रस्तुत किया करती थी। युद्ध–अभियान के लिए यह दिन शुभ माना जाता था। लोग उसी दिन देवी दुर्गा की पूजा करते थे। बगाल मे यह प्रमुख त्यौहार के रूप मे मनाया जाता था। वहॉ यह दुर्गापूजा के नाम से मशहूर था। लोग सामूहिक रूप से देवी दुर्गा की प्रतिमा स्थापित करते थे व पूजन–अर्चन करते थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उस दिन लोग वाणिज्य व्यवसाय तथा पेशे मे प्रयुक्त होने वाले उपकरणो की पूजा करते थे। राजपूत और क्षत्रिय अपने घरो को सजाते थे। किसान व कारीगर अपने–अपने औजारो को साफ किया करते थे और उसकी पूजा करते थे।

दीवाली आज की तरह ही मनाई जाती थी। धान की फसल तैयार होने के बाद ही इस त्यौहार का समय होता था, अत. इसमे धान से तैयार वस्तुएँ लाई, लावा, चिउरा आदि पूजा मे इस्तेमाल किया जाता था। इस त्यौहार के आयोजन मे लोग अपने धरो की सफाई–पुताई कराते थे, उसके पश्चात् गणेश–लक्ष्मी की पूजा करते थे। इस पूजा में लक्ष्मी की पूजा का विशेष महत्त्व होता है, लोग अपने घर को धन–धान्य व खुशियो से पूर्ण करने के लिए बडे विधि–विधान से लक्ष्मी पूजन करते थे।प्रसाद के रूप मे धान से निर्मित वस्तु व बताशे आदि चढाते थे। व्यापारी वर्ग के लिए त्यौहार का विशेष महत्त्व होता था, वे अपने साल भर का खाता इसी रोज प्रारम्भ करते थे, वो इस दिन नई बही खाते की शुरुआत करते थे। इस त्यौहार को उल्लासपूर्ण और मनोरजक बनाने के लिए रोशनी का इंतजाम होता था, आतिशबाजी छोडी जाती थी व उपहारों का आदान प्रदान होता था।

इस त्यौहार की एक कुप्रथा भी थी, इस दिन लोग अपना भाग्य आजमाने के लिए जुआ खेलते थे व शराब पीते थे। इसके बाद भइया–दूज का त्यौहार होता था इसमे बहने भाई की लम्बी आयु की कामना करते हुए उपवास रखती थी और पूजा के पश्चात् भाई के माथे पर टीका लगाती थी। भाई बहन को उपहारस्वरूप स्वर्ण–चादी या रुपये देते थे। कश्मीर मे उस समय विविध यात्राएँ प्रचलित थी जिसमे अमरनाथ की यात्रा प्रमुख थी जो आज भी प्रचलित है।[1] शिव रात्रि व बसतोत्सव आदि भी पूरी श्रद्धा व उत्साह से मनाया जाता था। शिवरात्रि का व्रत अपने पाप को समाप्त करने तथा इच्छाओ की पूर्ति के लिए रखा जाता था। अबुल–फजल ने आइन–ए–अकबरी मे रामनवमी व 'कृष्ण जन्माष्टमी' के नाम से दो अन्य महत्वपूर्ण हिन्दू त्यौहारो का उल्लेख किया है ये क्रमश भगवान राम तथा कृष्ण की जयंतियां हैं।

'मुहर्रम', 'ईद मिलाद,' 'शब–ए–बारात', 'ईद–उल–फितर', और 'ईद–उल–जुहा' कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण मुसलमानी पर्व थे, जिन्हे मध्यकालीन युग मे पूरी श्रद्धा से मनाया जाता था। मुहर्रम के पहले दस दिनों को सुन्नी मुसलमान सामान्य रूप मे व शिया विशेष रूप से शोक दिवस जैसा मनाते थे। इस अवसर पर मुसलमानी महीना 'रबी–उल–आइवाल' के बारहवे दिन जश्न मनाते थे। सैय्यदों व सतों की सभा बुलाई जाती थी, कुरान पढा जाता था व गरीबो में खैरात बांटा जाता था। सुल्तान व शासक भी इस पर्व में विशेष रुचि लेते थे और बडी मात्रा मे खैरात बाटते थे।

मुसलमानी महीना सावन के चौदहवें दिन को पडने वाला त्यौहार शब–ए–बरात था। ऐसी मान्यता थी कि उस दिन पैगम्बर स्वर्ग में दाखिल हुए

---

1 जोनराज कृत राजतरगिणी (श्लोक–654)

थे। यह बहुत लोकप्रिय त्यौहार था तथा धर्मभीरु मुसलमान पूरी रात जागकर प्रार्थना किया करते थे। सामान्य जन उस दिन खुशियाँ मनाते थे, घर मे, शाही–इमारतो मे राजमहलो मे, बागो तथा बावलियो आदि सब जगहों पर रोशनी की जाती थी। लोग अपने मृतको की आत्मा की शाति के लिए दान देते थे व उनकी कब्र पर जाकर फातिहा पढते थे। आपस में मिठाई का आदान–प्रदान करते थे। धूमधाम से मनाया जाने वाले इस पर्व की विशेषता, घरो व मस्जिदो के दिये जलाना था। यह त्यौहार चार दिनो तक मनाया जाता था। ये हिन्दुओं के दीवाली के त्यौहार के समान ही था।

ईद–उल–फितर तथा ईद–उल–जुहा, दोनो ईद मुसलमान के लिए बडे महत्वपूर्ण पूर्व थे। ईद–उल–फितर रमजान की लम्बी उपवास अवधि के बाद आता था। मित्र तथा संबधी एक–दूसरे को मुबारकवाद देकर मिठाईयाँ बाटते थे। उस दिन अपने से बडों के पास जाकर ईद–मुबारक कहने का रिवाज था। बादशाह इस अवसर पर अपने दरबारियों को उपहार देते थे और कुछ बादशाह तो इस अवसर पर कैदियों को रिहा करते थे। इस दिन सभी मुसलमान नमाज अदा करते थे व एक–दूसरे के गले मिलते थे, यह भाईचारे का त्यौहार था। समकालीन साहित्य मे उस समय प्रचलित मुसलमानो के अन्य त्यौहारों में "वारा–व–फात", आखिरी चहर व शंबा आदि मुख्य थे। नौरोज, मीना बाजार और "आबे–पशन" कुछ ऐसे पर्व थे जिन्हे राष्ट्रीय पर्व का दर्जा दिया गया था। मध्यकालीन समय मे नौरोज अर्थात् फारसी नववर्ष का त्यौहार भी मनाया जाता था।

खेल तथा मनोरजन के अन्य साधन

मध्ययुगीन समाज मे लोग तरह–तरह के खेलों से अपना मनोरजन करते थे। शतरज, चौपड और ताश और खेल अमीर व गरीब दोनो मे समान रूप से लोकप्रिय थे। जानवरो की लडाई व अन्य खेल भी ग्रामीण क्षेत्र में प्रचलित थे। अबुल फजल ने आइने–अकबरी में ऐसे खेल का वर्णन किया है। ताश का खेल एक पुराना खेल है, जो मुसलमानो के आने के पहले से ही भारत में खेला जाता था। शतरज मुगल सामंतो का यह प्रिय खेल था। स्टोरिया दी मोगोर का लेखक मानुसी लिखता है कि सुल्तान शतरज के खेल द्वारा अपनी–अपनी योजनाओ के बनने बिगडने व हारजीत की बाते ज्ञात करते थे। कई बार बाजियॉ लगती थीं और अतर्राष्ट्रीय मुकाबले होते थे।

चौपड

चौपड एक प्राचीन खेल है आदि काल से इसके द्वारा लोग मनोरजन करते थे। यह मध्ययुगीन समय मे भी लोगो के बीच प्रचलित रहा। राजपूत रानियों के बीच यह खेल काफी लोकप्रिय था, समय बिताने के लिए रानियॉ आपस मे चौपड खेलती थी।

मैदानी खेल

घर के बाहर मैदानो में खेले जाने वाले खेलो में शिकार, जानवरो की लडाई और चौगान कुछ सुसंपन्न लोगो के खेल थे। मनोरंजन के क्षेत्र मे जादूगरी तथा कौतुकी के खेल भी प्रचलित थे। लोग पतंगबाजी

आदि से अपना मनोरजन करते थे। रस्सियो के सहारे अपनी कलाबाजी दिखाने वाले नट अपने कौशल से दर्शको का मन बहलाया करते थे। कुछ लोग अपने साथ सिखाये हुए बदर व भालू रखते थे, जो मालिक के इशारे पर तरह–तरह के खेल दिखाया करते थे। इस जाति को मदारी कहा जाता था। कुम्मी का कलटन जैसे लोकनृत्य दक्षिण के देहातो मे अधिक लोकप्रिय थे। सपेरे सापो के जहर के दात निकाल कर बीन बजाकर इनका नाच गली–गली घूम–घूम कर दिखाते थे।

चौगान

इस खेल को आजकल पोलो कहते हैं इसे उस समय भी आज की तरह ही खेला जाता था। सुल्तान कुतुबद्दीन ऐबक (1206–1211) इस खेल का बहुत शैकीन था, चौगान खेलते हुए ही वह अपने घोडे से गिरकर मरा था। राजपूतों की तरह तुर्क व अफगान भी इस खेल में बहुत रुचि लिया करते थे। हाकी भी उस समय का लोकप्रिय खेल था। समकालीन अभिलेखों मे हाकी खेल का भी जिक्र प्राप्त होता है। बगला साहित्य मे "धोफरी" खेलने का उल्लेख है। वस्तुत यही हाकी का खेल था, जो ग्रामीण क्षेत्रो गेद तथा स्टिक से खेला जाता था। अन्य खेलो मे गेरू नाम से खेला जाने वाला एक खेल बगाल के बच्चो मे बहुत प्रचलित था। इसमे लडको की दो टोलियॉ होती थी, एक टोली की ओर से गेद फेकी जाती थी तथा दूसरी टोली उसे पकडने की चेष्टा करती थी। सल्तनत काल मे कुश्ती तथा मुक्केबाजी भी मन बहलाव के मुख्य साधन थे। विजय नगर मे स्त्रियॉ भी कुश्ती मे भाग लेती थी। उच्च वर्गों मे घुडसवारी भी मनोरजन के साधन हुआ करते थे। इसके

लिए विशेष प्रकार के अरबी घोडे यमन तथा ओमन से मगाएँ जाते थे। घुडसवारी मे राजपूत व गुजराती एक–दूसरे के कुशल प्रतियोगी हुआ करते थे। रणकौशल सबधी खेल, तीरदाजी तलवारबाजी, भाला फेकना, माला फेकना आदि मे भी जन सामान्य की काफी रुचि रहती थी। इसके लिए प्रतियोगिताएँ होती थी व पुरस्कार वितरित किये जाते थे।

शिकार खेलना

शिकार खेलना मनोरंजन का उत्तम साधन माना जाता था जिसमे राजा व अमीरो के साधारण जन भी भाग लेते थे किन्तु हाथी, शेर, बाघ, जगली भैसा आदि बनैले पशुओ का शिकार के अभियानों की तैयारी कुछ अमीर व सक्षम लोग ही किया करते थे। शेर का शिकार केवल राजा करते थे। मुगल राजाओ और सुल्तानों के लिए शिकार खेलना एक प्रिय काम था, इसमे राजपूत भी भाग लिया करते थे उन्हे बाघ, जगली सूअर और शेर मारने मे बडा मजा आता था। शिकार का खेल बहुत लोकप्रिय हो गया था। पक्षियो का शिकार अमीर व गरीब दोनो का मनपसद खेल था। काश्मीर मे भी तत्कालीन शासक शाहमीर (1339–1342) भी शिकार के खेल में बहुत रुचि लेता था। [1] तथा रिंचन (1320–1323) भी शिकार खेलने के लिए जाया करता था। [2] शिकार का खेल उच्च्च वर्ग मे ही लोकप्रिय था खर्चीला होने के कारण यह केवल शासक वर्ग व अमीरो मे ही प्रचलित था।

---

1 वने विहरतस्तस्य शहमेरस्य कदाचन्।
मृगया प्रथमं दृष्टि पश्चानिद्रा व्यलोभयत्।।(138)

2 छेदयच्छन्नतुच्छाना वैरिणामुच्छलच्छ्रियाम्।
आच्छोदनमगच्छत्स छत्रशाली कदाचन्।।

मछली मारना

मछली मारना कई लोगो का मनोरजन था किन्तु कुछ लोगो का पेशा भी था। सल्तनतकालीन युग मे मछली फसाने वाले जाल की जानकारी लोगो को थी, इसके लिए विशेष प्रकार के जाल सफरा या भवर जाल का इस्तेमाल किया जाता था। तत्कालीन युग मे मछली मारने का चलन इतना ज्यादा बढ गया था कि राजा को रोक लगाने के लिए निषेधाज्ञा जारी करना पडा। जैनुल आबदीन (1420–1470) ने मछलियो व पक्षियो का शिकार अनेक सरोवरो से न करने का आदेश दिया। [1]

जानवरों की लडाई

जानवरो को पकड कर आपस मे लडाना उस समय का प्रचलित मनोरजन था। गरीब लोग कम खर्चीले व पालतू जानवरों की लडाई देखकर प्रसन्न होते थे। बादशाह व अमीर लोग अधिक खर्चीले तथा खतरनाक जानवरो की लडाई देखकर प्रसन्न होते थे। उच्चवर्ग व मध्यमवर्ग में मुर्गे की लडाई का खेल बहुत प्रचलित था। कबूतर उडाने का खेल मूलतः जन साधारण का मनोरंजन था किन्तु अमीर भी इसका मजा लेते थे। मनोरंजन के अन्य साधनो मे मुशायरा (कवि सम्मेलन) जादूगरी, नाटक–तमाश आदि उल्लेखनीय है। राजस्थान मे उस समय कठपुतली का नाच भी काफी प्रसिद्ध था राजा से लेकर प्रजा तक अपना भरपूर मनोरजन करती थी। इसके अतिरिक्त उस समय राजस्थान में पार्श्वनाथ चरित्र व हरीश चरित्र मे मंचन के

---

1 निर्दिशन् यशसा शुभ्रा दिशो नृपतिरादिशत्।
अवध खगमत्स्यानामनेकेषु सर सु स ।।
जोनराकृत राजतरगिणी (953)

भी प्रमाण मिले है। गुजरात के कलाकार पूरे देश के विभिन्न भागो की यात्रा करके नाटक तथा खेल तमाशे द्वारा लोगो को मनोरंजन किया करते थे।

दास–प्रथा

उस समय समाज मे हिन्दू और मुसलमान दोनों में दास प्रथा प्रचलित थी तथा गुलाम बाजार मे बेचे व खरीदे जाते थे। दासो के जीवन व सम्पत्ति पर उनके मालिकों का पूर्ण अधिकार होता था। मुसलमान दासों की स्थिति, हिन्दू दासो की अपेक्षा बेहतर थी। चूंकि उस समय भारत पर मुसलमान शासको का साम्राज्य था। अतः सुल्तान स्वय योग्य दासों को बडी सख्या मे रखते थे अपनी योग्यता व गुण के कारण अनेक दासों ने राज्य में बडे से बडा पद प्राप्त किया तथा आगे चलकर इन्ही में से योग्य व कुशल प्रशासक बने। जिनके चलते गुलाम वश का शासन कई वर्षो तक सफलतापूर्वक चला। तत्कालीन ग्रथकारो के अनुसार दासों की चार श्रेणियॉ थी। [1]

(क) घरेलू दास– जिन्हे घरेलू दास कार्य हेतु रखा जाता था और वो अपनी पूरी जिन्दगी अपने मालिको की सेवा में बिता देते थे। उनके बच्चे भी अपने माता पिता के मालिक की सेवा करते हुए अपनी जिन्दगी बिता देते थे।
(ख) स्मृतियों के अनुसार दासो का दूसरा प्रकार क्रीत दासों का होता था, इस प्रकार के दासो को लोग खरीदकर लाते थे और उन्हे अपने यहॉ रखतें थे, कभी कोई शक्तिशाली व समृद्ध व्यक्ति गरीब व कमजोर व्यक्तियो को अपने साथ लेकर आते व गुलामो का बाजार में जानवरो की तरह बेच देते थे। ये मूक पशु की तरह अपने खरीददार के साथ चले जाते थे, चूंकि वो उनका दाम

---

1 जोनराजकृत राजतरंगिणी (953)

चुकाकर लाते थे अत उनके जीवन पर उनका पूरा अधिकार होता था। वो उनका शोषण हर स्तर पर करते थे। यद्यपि हिन्दू दासो का क्रय–विक्रय नही करते थे परन्तु मुसलमान विधर्मियो का सग्रह दास रूप मे करते थे। वे उन्हे मुस्लिम धर्म स्वीकार कराते थे।

(ग) तीसरी श्रेणी मे वे दास आते थे जो विजयी राजा के द्वारा अपने सबधियो व मित्रो को उपहार स्वरूप प्रदान किये जाते थे। इनमे वो दास भी होते थे जो युद्ध बंदी होते थे। विजयी राजा हारी हुई सेना को बंदी बना लेता था और उन्हे दास बनाकर अपने राज्य में ले आता था।

(घ.) दासो की चौथी श्रेणी वो थी जो गुलामो के उत्तराधिकारी होते थे अर्थात् यदि कोई गुलाम अपने मालिक के यहाँ काम करता है, फिर उसके बच्चे भी उसी मालिक या उसके बच्चो के यहाँ दास के रूप में कार्य करें। पीढी दर पीढी गुलाम का कार्य करने वाले इस श्रेणी मे आते थे।

मध्ययुगीन भारत मे मुसलमानों के आगमन व बढते प्रभुत्व के कारण उनका प्रभाव तत्कालीन समाज पर पडा मुस्लिम विजय के साथ ही साथ यह प्रथा विजित देशों मे फैल गई। वे विधर्मियो और पराजित सैनिकों का संग्रह दास रूप मे करते थे। उन्हे अपने धर्म में दीक्षित कर अपने धर्म व कार्य क्षेत्र की सीमा बढाते थे, ये तो हुई पुरुष दासो की बात। [1] तत्कालीन इतिहासकार इब्नबतूता लिखता है कि उस समय स्त्री दासों की दशा अत्यन्त खराब थी। मुसलमान हिन्दू स्त्रियो का शोषण करते थे, वे हिन्दू स्त्रियो को

---

1 धनाम्बु प्राप्य भौट्टेभ्य कश्मीरजनविक्रयात्।

गर्जन्नाशा· व्यधात्सर्वास्तदा रिंचनवारिद ।।

जोनराजकृत राजतरगिणी (158)

एक–दूसरे को उपहार स्वरूप देते थे व विद्वेष के चलते मुसलमान अधिकतर हिन्दुओ की उच्च कुल की स्त्रियो को दासी बनाने मे प्रसन्नता प्राप्त करते थे व उन्हे नृत्य–सगीत कला मे प्रशिक्षित करके राजदरबारो मे नचवाते थे और उन्हे अपमानित करते थे। यही कारण था कि मध्ययुग मे स्त्रियॉ पर्दे मे रहती थी। व बाल–विवाह जैसे कुप्रथा का चलन प्रारम्भ हुआ। लोग विदेशियो से बचाने के लिए लडकियो को घर से बाहर नही निकलने देते थे व उनका शीघ्र विवाह कर देते थे, इन सबके परिणामत· स्त्रियो की स्वतत्रता का हनन हुआ।

सामान्यत हिन्दू दासो का क्रय–विक्रय नही करते थे, परन्तु जब विदेशी मुसलमान यहॉ की स्त्रियो के साथ अमानुषिक अत्याचार करने लगे तो हिन्दुओ ने भी इसका प्रत्युत्तर इसी प्रकार दिया। वे मुस्लिम कन्याओ विशेषत सैय्यद कन्याओ को दासी के रूप मे इस्तेमाल करने लगे व इन कन्याओं को नृत्यकला में पारगत कर अखाडो मे भेजने लगे। मुस्लिम सुल्तान तो दासो को उपहार स्वरूप अन्य राजाओ को देते थे व उनके कृपा पात्र व मित्र बनते थे। इब्नबतूता लिखता है कि मुहम्मद बिन तुगलक ने चीन के राजा को 100 गुलाम स्त्रिया भेट किया।

उस काल में दासो की स्थिति बहुत खराब थी, मालिक अपनी इच्छानुसार उन्हे एक जगह से दूसरे जगह भेजते थे व उन पर मनभाना अन्याय करते थे परन्तु कभी–कभी, कोई गुलाम यदि मालिक को किसी खतरे से बचाता था या उसकी जान की रक्षा करता था तो मालिक प्रसन्न होकर उसे

मुक्त भी कर देता था।[1] पराशर माधव व व्यवहार विवेकाद्योत ग्रथ के ग्रथकार लिखते है कि प्राणरक्षा के एवज मे सभी वर्ग के दासो को मुक्त किया जा सकता था परन्तु राजघराने के दासो को किसी भी प्रकार छोडने का विधान नही था। चाहे वो अपने मालिक की प्राण रक्षा भी करे। यदि मालिक नि सतान होता था तो वो अपनी दासी से पुत्र प्राप्त कर सकता था तथा उस दासी को दासत्व से मुक्ति दे सकता था।

तत्कालीन साहित्य व अभिलेखो जैसे साक्ष्यो से ज्ञात होता है कि विजय नगर मे भी दास प्रथा का चलन था और वहाँ स्त्रियाँ ही दासी रूप मे अधिक प्रचलित थी।[2] उनका दैहिक शोषण होता था। 1382 के अभिलेख मे भी दासियो को उपहार मे देने का उल्लेख किया गया है। कई दास बधुआ मजदूर बना कर भी रखे जाते थे।

कुछ विदेशी पर्यवेक्षक बारबोसा, अब्दुल रज्जाक व पायस आदि ने दासियो की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि दासियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। समाज मे उन्हें भोग्या के रूप मे देखा जाता था परिणामत· दासियों को नर्तकी, देवदासी व वेश्या के रूप में जीवन यापन करना पडता था।

हिन्दू–मुस्लिम संबंध

सल्तनत काल मे हिन्दुओ और मुस्लिम सम्प्रदाय की पारस्परिक असहिष्णुता ही प्रसिद्ध है। एक–दूसरे के धर्म, आचार–विचारादि से मेल न होने पर भी इस समय जो कुछ भी परिवर्तन हुए उस पर विचार करना

---

1 (क) व्यवहारविवेकोद्योत (214), (ख) व्यवहारकाण्ड (291)

2 एपिग्रेफिया कर्नाटिका (40)

आवश्यक है। इतिहासकारो का एक वर्ग ऐसा भी है जो ये मानता है कि मध्यकालीन युग धार्मिक असहिष्णुता का युग नहीं था। वे दिल्ली सुल्तानो के राजनीतिक उद्देश्यो पर अधिक बल देते है, तथा जिस प्रकार हिन्दू व मुलसमानो ने एक दूसरे के विचारो, रीति–रिवाजो, रहन–सहन आदि को प्रभावित करना आरम्भ किया था उसी के आधार पर निर्णय करते है कि इस युग मे हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्ध परस्पर सहयोगी थे। सम्भवतया उनका यह विचार आधुनिक समय मे हिन्दू और मुसलमानो के सम्बन्धो मे सुधार तथा आधुनिक युग की धार्मिक उदारता की प्रवृत्ति और उसकी आवश्यकता के कारण भी है। इतिहाकार डा ए रशीद के अनुसार इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक मिश्रण तथा भाषा सबंधी आदान–प्रदान की ऐसी प्रवृतिया थी जो एक सूत्र मे बधे हुए एक राष्ट्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। परन्तु कुछ इतिहासकार ऐसे भी है जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग मानते है। इनमे डा. आशीर्वादी लाल कहते है कि "समकालीन अकाट्य परम्पराएं चली आयी हैं जिनसे प्रमाणित होता है तुर्कों का शासन अत्याचारपूर्ण था।" [1]

राजतरंगिणी मे भी उल्लिखित है कि उस समय के शासक हिन्दू धर्म के कितना विरुद्ध थे। वो हिन्दू धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणो के प्रति काफी अत्याचार पूर्ण व्यवहार करते थे। जोनराज ने लिखा है कि सूहभट्ट ने ब्राह्मणो को अनेक प्रकार से कष्टित किया और इतना पीडित किया कि उन्हे जान बचाकर भागना पडा और जब अत्याचार असह्य हो गया तो आत्महत्या करने पर मजबूर होना पडा। जोनराज ने सूहभट्ट द्वारा ब्राह्मणों पर किए

---

1 मध्यकालीन भारत–डा आशीर्वादी लाल (पृष्ठ–267–69)

गए अत्याचारो का वर्णन अनेक श्लोको मे किया है।[1] उनके अनुसार सूहभट्ट ने पूरे उत्साह से जो थोडे बहुत ब्राह्मण बच गये थे और जिन्होंने इस्लाम कबूल नही किया था। उन सबकी या तो हत्या करवा दिया या तो उन्हे निर्वासित कर दिया।[2] उस काल मे हिन्दू वर्ग प्रत्येक प्रकार से पीडित वर्ग था। ऐसी स्थिति में हिन्दू–मुसलमानो के अच्छे सबध का प्रश्न ही नही उठता। उपर्युक्त दोनो ही विचारो के सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वान इतिहासिकारों ने अपने–अपने तर्क व प्रमाणित तथ्य प्रस्तुत किये है। इस संबंध में डा के एस लाल ने इस समस्या के तीन कारण बतायें है, प्रथम, मुसलमानों द्वारा भारत विजय की विशेष लालसा, द्वितीय विजेता और विजित की स्वाभाविक कटुता तथा तृतीय गैर मुसलमानी देश मे लागू किये जाने वाले मुस्लिम कानून की प्रकृति।

यह निश्चित रूप से माना जाता सकता है कि मुलसमान शासकों ने भारत मे अपने साम्राज्य की स्थापना और उसके विस्तार मे धर्म का सहारा लिया। इस कारण उनके राजनीतिक उद्देश्य मे धार्मिक उद्देश्य सर्वदा सम्मिलित रहे। इसी प्रकार, विजेता और विजितों के संबंधों में कटुता होना आवश्यक था, मुख्यतया ऐसी स्थिति मे जबकि धर्म, विचार और सस्कृति के आधार पर उनमें पर्याप्त अन्तर थे। और उन्होंने किसी धर्म–निरपेक्ष शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न ही नहीं किया था। ऐसी स्थिति मे हिन्दुओं को न्याय व समानता प्राप्त होने का कोई प्रश्न ही नही था, इसके अतिरिक्त यह भी था कि अलाउद्दीन खिलजी को छोडकर सभी

---

1 जोनराज कृत राजतरंगिणी (श्लोक सख्या– 655–672 तक)

2 घाटीफणीन्द्र–भीतीव्रतापस्वल्पाशनातुरै ।
मार्गेऽनेकैर्द्विजैमृत्युर्लाभात् सुखमलभ्यत।। वही (श्लोक–650)

सुल्तानो ने उलेमा वर्ग की शक्ति व प्रभाव को स्वीकार करके उन्हे शासन मे सलाह देने तथा हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार दे दिया था और उन्होने पूरी तरह धार्मिक कट्टरता का परिपालन किया। इन परिस्थितियों में सुल्तान और शासक वर्ग से हिन्दुओ के प्रति सद्व्यवहार करने की आशा रखना बेकार था। इस प्रकार हिन्दू जनता न तो शासन से उदारता की आशा कर सकती थी और न ही किसी प्रकार शासन मे भाग ले सकती थी। परिणामस्वरूप वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे न्याय और सुविधाए नही प्राप्त कर सकती थी। इस कारण विशेष अधिकार प्राप्त मुसलमानों और अधिकार रहित हिन्दुओं में परस्पर वैमनस्य के अतिरिक्त और कोई संबंध हो ही नहीं सकते थे चाहे वो शत्रुता स्पष्ट हो या अस्पष्ट।

मुस्लिमो ने बडी संख्या में धर्म परिवर्तन कराये, तत्कालीन युग के अंत में अधिकांश मुसलमान, धर्म परिवर्तन करने वालों के वंशज है। ऐसा विदेशी इतिहासकार रिश्ले, बेवरली व हण्टर ने लिखा है। वे मुस्लिम जो बाहर के विदेशी होने का दावा करते है; पीढियों तक हिन्दुओ के निकट पडोसी की तरह रहे। यह माना जा सकता है कि जन साधारण चाहे वो हिन्दू हो या मुसलमान साधारणतया शातिपूर्वक रहना पसद करता है। हिन्दू और मुसलमान जब साथ–साथ रहते थे तो उनका एक–दूसरे पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था, अत दोनों समुदायों के मध्य वेशभूषा व रीति–रिवाजों का प्रभाव भी एक–दूसरे पर पडना व इसी आधार पर दोनो वर्गो का जनसाधारण एक–दूसरे से कुछ सिखा सका। इसके अतर्गत धर्म का प्रभाव भी एक–दूसरे पर पडा हिन्दू रहस्यवादी सूफियों को मान्यता देते थे व मुसलमान हिन्दू योगियो का आदर करते थे। विद्वता व साहित्य के क्षेत्र में दोनो का परस्पर सहयोगी रवैय्या था।

कुछ मुस्लिम शासक हिन्दू लेखको के सरपरस्त थे, तथा कुछ हिन्दुओ ने फारसी मे लिखा। हिन्दी पर पारम्परिक वैज्ञानिक प्रभाव पडा जिससे उर्दू का विकास हुआ। कुछ मुलसमान छात्रो ने हिन्दू—दर्शन, और विज्ञान का अध्ययन किया। कुछ ने योग व वेदान्त, चिकित्सा विज्ञान व ज्योतिष की जानकारी ली। कुछ मुस्लिमो ने भारतीय भाषा मे लिखा लेकिन ये सब सीमित था और उत्तरी भारत के कुछ सीमित भाग मे जन साधारण के विशेष वर्ग तक ही प्रचलित था। विहगम दृष्टि डालने पर और अन्य क्षेत्रो का आंकलन करने पर ज्ञात होता है कि ये सब ऊपरी दिखावा था, आतरिक रूप से सब एकदम भिन्न था, हिन्दू व मुसलमान मे काफी असमानता थी। मुसलमानों के विचार प्रजातात्रिक नही थे, वे अनुदार थे और हिन्दुओ मे वो बात नही थी वे उदार थे व उनकी सस्कृति की ये विशेषता थी कि वे सभी को अपने में समो लेते थे, इन्ही वैचारिक भिन्नताओं के कारण ये दोनो समुदाय कभी एक न हो सके दोनों के बीच की खाई उत्तरोत्तर तत्कालीन मुसलमान शासको के धार्मिक कट्टरता व अत्याचारपूर्ण शासन के कारण बढती ही रही। कभी किसी शासक ने अपने उदार रवैय्ये के कारण इसे कम भी करना चाहा तो अगले कट्टर शासक ने उसे और भी वृहद रूप दे दिया, जिसका परिणाम ये हुआ कि दोनो समुदायो मे एक स्वाभाविक कटुता का उदय हुआ जो समय के साथ उत्तरोत्तर बढता ही रहा, घटा नही। मुसलमानो ने मूर्ति तोडना व धार्मिक कट्टरता का त्याग नही किया। यह कार्य मुहम्मद बिन कासिम के भारत आगमन के साथ ही शुरू हो गया था। पारम्परिक राष्ट्रीय मान्यताए जो आतरिक रूप से मनुष्य को प्रभावित करती है उनमे भी कोई समझौता नही हो

सका, हिन्दू तो सहनशील रहे पर मुसलमानो ने अपनी कट्टरता का त्याग नही किया। दोनों समुदायो मे अपने–अपने विश्वासो के कारण मौलिक अतर बना रहा। अत· दोनो समुदाय साथ–साथ रहते हुए भी अपने–अपने मार्ग पर चलते रहे। दोनो ही अपनी धुरी पर घूमते रहे, कभी एक नही हो सके।

मुस्लिम शासित प्रदेश में हिन्दुओ की दशा बेहद शोचनीय थी। जिन परिस्थितियो मे हिन्दू व मुसलमान रहने के लिए बाध्य किए जाते थे वहीं दोनो सम्प्रदायो के एक होने मे सबसे बडी बाधा थी मुसलमान शासक इतनी राजनीतिक सप्रभुता दिखाते थे कि हिन्दुओ को कोई राजनीतिक स्तर नहीं प्राप्त थे इतिहासकार डा आर सी मजुमदार लिखते हैं कि, "यह सत्य है कि हिन्दुओ को शासन मे बहुत बडी संख्या मे छोटे पद प्राप्त थे और इस युग के अंत मे कुछ बडे असैनिक पद पर व बहुत ही कम सैनिक पद भी प्राप्त हुए लेकिन उनका कोई राजनीतिक स्तर न था।" मुसलमानों के अंदर इतनी धर्मान्धता भरी थी कि वो इस्लाम के अतिरिक्त और किसी धर्म के बारे मे सोच भी नही सकते थे सरजदुनाथ सरकार के अनुसार "इस्लामिक सिद्धान्त के नस–नस मे जहर भरा हुआ था, इस सिद्धान्त के अतर्गत एक ही धर्म, एक ही लोग व एक ही सत्ता हो सकती थी।" कुरान मे भी धार्मिक कट्टरता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया कि जो सच्चे धर्म (इस्लाम) का पालन नहीं करते, उनसे युद्ध कीजिए और जब तक वह आत्म समर्पण करके इस्लाम न स्वीकार कर लें तब तक अपमानपूर्वक जजिया अदा करें। [1] मुस्लिम राज्य का ये सिद्धान्त था कि गैर मुस्लिम हमारे शत्रु हैं ये पूरी तरह से नष्ट हो जाएं, इसके लिए उन्होंने हर तरह के प्रयास किए। बीच में इस प्रथा 'जजिया' से

---

1 कुरान (IX , 29)

ब्राह्मण मुक्त किये गये परन्तु फिरोज–तुगलक ने पुन ब्राह्मणो पर भी जजिया लगा दिया। इस प्रकार मुस्लिम शासको ने कोई भी ऐसा कृत्य बाकी नही छोडा जिसे हिन्दू धर्म पर कुठाराघात न हो, परिणामत हिन्दुओ के मन मे उनके प्रति घृणा भाव ने ही जन्म लिया। मुसलमान हिन्दुओ को सिर्फ निम्नस्तर पर ही बर्दाश्त करते थे। इनको वह जिम्मी की सज्ञा देते थे। मुस्लिमो से इनका एक प्रकार का समझौता था कि ये उनकी सेवा करेगे व बदले में मुसलमान उनकी रक्षा का दायित्व लेते थे। परन्तु यह ध्यान रखाा जाता था कि ये आगे न बढने पाए। जिम्मी अपमानजनक शब्द था, ये निचले स्तर के असहाय वर्ग थे, जिन्हें केवल मुलसमानो के रहमोकरम पर जिन्दा रहने का अधिकार था। इनको इतना ज्यादा दबाया जाता था कि ये सिर्फ अपने जीवित रहने के बारे में सोचे अपने उत्थान के बारे मे नही।

परन्तु स्थिति हमेशा एक सी नही रहती और यही कारण है कि बर्बरतापूर्ण असहनीय स्थितियो के परिणामस्वरूप हिन्दुओं के मन मे इस्लामिक राज्य के प्रति ईर्ष्या व द्वेष ने जन्म लिया और मौका मिलने पर उन्होंने उनके इस कुकृत्य का जवाब इसी प्रकार से दिया। सामाजिक व धार्मिक कारणो के अतिरिक्त ऐतिहासिक कारणों से भी दोनो समुदाय मे अन्तर उत्पन्न हुआ। सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं पर बडा अत्याचार किया था। उसने आदेश दिया था कि हिन्दू दाढी नहीं बना सकते व सिर के बाल नही बनवा सकते थे वो ऐसा कोई भी कार्य नही कर सकते थे जिससे उनका हिन्दुत्व प्रदर्शित हो। उसके आदेशानुसार शिवलिग का प्रयोग कसाई मॉस तौलने में करते थे। मध्य काल मे भारतीय हिन्दुओ पर बहुत अमानुषिक अत्याचार हुए तथा

मुसलमानो ने हिन्दुओ को बहुत सताया व दबाया , परिणाम स्वरूप हिन्दुओ के मन मे मुसलमानो के प्रति कटुता व घृणा ही उपजी कोई अन्य भावना नही।

मध्ययुगीन जीवन मे धर्म और समाजिक संस्थाओ का महत्वपूर्ण स्थान था, किन्तु इस मामले मे हिन्दू व मुसलमानो मे बहुत भेद था। इनके धार्मिक मतभेदो के विषय मे प्रोफेसर यू एन घोषाल ने लिखा है कि, " वे अपनी धार्मिक आस्था, पूजा, अर्चना तथा ईश्वर भक्ति से सबधित दैनिक व्यवहारो में मौलिक विभेद रखते थे।" मुस्लिम विजेताओं ने भारत में ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी जो पहले नही थी। इसीलिए सम्पूर्ण मध्यकालीन अवधि मे यह समस्या बनी रही कि अपने-अपने सुदृढ मूलाधारों वाली इन दो सामाजिक व्यवस्थाओ मे परस्पर स्वस्थ संबंध कैसे विकसित हों ?

मध्यकालीन युग में शासक व विशेषाधिकार प्राप्त मुस्लिम वर्ग की धार्मिक असहिष्णुता ने इस सम्पूर्ण काल में हिन्दू व मुसलमानों के सबंधो को सुधरने नही दिया। इसके अतिरिक्त जबकि हिन्दू धार्मिक दृष्टि से उदार परन्तु सामाजिक दृष्टि से पूर्ण अनुदार थे, मुसलमान सामाजिक दृष्टि से उदार किन्तु धार्मिक दृष्टि से कट्टर धर्मान्ध थे। धर्म व समाज के प्रति हिन्दू व मुसलमान की ये विरोधी धारणाएं भी दोनों को एक-दूसरे का निकट लाने में बाधा थी। इन सभी कारणों से हिन्दू व मुसलमानों के संबंध इस युग मे कटुता पूर्ण रहे। इस सत्य को छिपाने की आवश्यकता नही है क्योंकि व्यावहारिकता का लाभ सत्य को छिपाने मे नहीं बल्कि उसे जानकर पूर्वजों की भूलो मे सुधार करते हुए भविष्य का निर्माण करने मे है, क्योंकि दोनो ही जातियो मे अनेक अच्छाइयॉ थी, अगर दोनो समुदाय अपनी कटुता को

भुलाकर अपनी अच्छाइयो के साथ एक होने का प्रयास करे तो वर्षों से चली आ रही वैमनस्यता को कम करने मे सहायता मिल सकती है।

सामाजिक सरचना

भारतीय जनसख्या के विशाल बहुमत के सामाजिक जीवन का जहॉ तक सबध है, स्मृतियॉ उसे जानने का प्रमुख स्रोत हैं। इस युग को जो पूर्ववर्ती काल से पृथक करता है वह है अभिलेखो का अभाव, जो स्मृति के प्रमाणो को परखने मे सहायक होता है। स्मृति के क्षेत्रीय सम्प्रदायों के उदय के द्वारा इस दोष (अभिलेखो के अभाव) को काफी हद तक दूर किया गया।

इसमे प्रथम है मिथिला का स्मृति सम्प्रदाय– इसमें चण्डेश्वर (1300–1370) द्वारा रचित गृहस्थ रत्नाकर व अन्य कृतियॉ, वाचस्पति मिश्र (1425–90) का विवाद चिन्तामणि व अन्य ग्रंथ। मिसारू मिश्रा (1450) का विवाद चद्र इत्यादि हैं।

बगाल का स्मृति सम्प्रदाय

शूलपाणि (1375–1440) द्वारा रचित याज्ञवल्क्य स्मृति पर प्रसिद्ध टीका दीप कलिका।

वाराणसी का स्मृति सम्प्रदाय– गोरखपुर के मुखिया मदन सिह (1425–1450) द्वारा इस बीच में लिखे गये ग्रंथ है, व्यवहार विवेकोद्योत व विश्वेश्वर भट्ट (1360–90) का लिखा ग्रंथ मदन पारिजात।

दक्षिणात्य स्मृति सम्प्रदाय

'माधवाचार्य' जो 'विद्यारण्य' के नाम से प्रसिद्ध थे

(1300–80) द्वारा रचित पराशरस्मृति, पराशरमाधव के नाम से प्रसिद्ध है, जो नृसिह प्रसाद ग्रथ का अनुभाग व्यवहार सार इस ग्रथ के लेखक 'दलपत' (1490–1515) है। प्रताप रूद्र (1497–1540) द्वारा लिखित 'सरस्वती विलास' का अनुभाग 'व्यवहार काण्ड'। इन विशाल ग्रथ राशियो मे बिखरे तथ्यो के आधार पर तत्कालीन सामाजिक संरचना को समझने मे भरपूर सहायता मिलती है।

सामाजिक विभाजन व उपविभाजन– परम्परा के अनुरूप भारतीय समाज चार श्रेणियो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र मे विभक्त था। इस काल मे सामाजिक व्यवस्थाकारों ने भी अनेक आचार–विचार तथा प्रतीकात्मक आधार पर प्रत्येक वर्ण में अंतर बनाये रखने की व्यवस्था की है। ग्रंथकारो ने अपने–अपने ग्रथो मे इन चारो वर्गो की दिनचर्या का वर्णन किया है।

ब्राह्मण

ब्राह्मण के विशेषाधिकारों के विषय में भी व्यवस्थाकारों में अनेक मत–मतातर मिलते है। गृहस्थ रत्नाकर में कहा गया है कि सूर्योदय से सूर्यास्त तक ब्राह्मणो को अकर्मण्य नही रहना चाहिए। [1] ब्राह्मणो का वर्णन करते हुए इस ग्रंथ मे कहा गया है कि उसे अनिवार्य, व ऐच्छिक कर्तव्यों में अपने को सलग्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे निर्दोष व्यवसाय का चयन करना चाहिए। सामान्य रूप से ब्राह्मण खेती कर्म नही करते थे, वो अपने खेत को (जो उन्हे दान मे प्राप्त था) शुद्रो से जुतवाते थे। विपत्ति के समय मे ब्राह्मणो द्वारा कृषि कर्म का विधान था। [2] इसके अतिरिक्त ग्रथों के

---

1 गृहस्थ रत्नाकर (134)

2 कलिवर्ज्य (1,123–27)

अनुसार ब्राह्मण व्यापार व काष्ठकला का कार्य भी नही कर सकते थे। ये सभी कार्य अन्य जातियो के लिए निर्धारित थे। कलिवर्ज्य के अनुसार चूकि ब्राह्मणो के लिए भिक्षा मागना एक श्रेष्ठ कर्म था अत ब्राह्मणो के लिए यह नियम निर्धारण था कि वे दूसरे दिन के अन्न का सचय नही कर सकते थे। [1] स्मृतियो के अनुसार ब्राह्मणो को अपराध के लिए भी दण्ड न देने का विधान था। मेधातिथि ने अपराधी ब्राह्मण को शारीरिक दड तथा जुर्माने से भी मुक्त किया है। [2] किन्तु ये व्यवस्था सिर्फ विद्वान व सच्चरित्र ब्राह्मणो तक ही सीमित थी। [3] स्मृतियों के अनुसार जाति व्यवस्था मे सर्वश्रेष्ठ स्थान पाने के कारण ब्राह्मणो को विशेषाधिकार प्राप्त थे चूकि वो धर्मिक कृत्यो के प्रमुख कर्ता–धर्ता होते थे, अत समाज मे उन्हे में विशिष्ट स्थान भी प्राप्त था और वे दड व्यवस्थाओ से परे थे। ब्राह्मणो को सर्वश्रेष्ठ मानने के कारण राजा (क्षत्रिय) भी उनको श्रेष्ठ मानता था और इसका एक कारण यह भी था कि ब्रह्महत्या अक्षम्य अपराध माना जाता था और उसका कोई भी प्रायश्चित नही था। अतः लोग भयवश भी ब्राह्मणो को कुछ नहीं कहते थे। इसका परिणाम ये हुआ कि ब्राह्मण निरकुश हो गये। व अपने को सर्वोपरि मानने लगे। स्कध पुराण मे कहा गया है कि ब्राह्मणो को दान देने से पितृ तथा देवता दोनो प्रसन्न होते है, ऐसी व्यवस्था अन्य स्मृतियो व पुराणों में भी है। मदिरो में मूर्तिपूजा ब्राह्मण ही करता था। जो देवलक या पुजारी कहलाता था परन्तु उस काल मे पुजारी श्राद्ध कर्म नही करवा सकता था। श्राद्ध कर्म के लिए

---

1 (क) पराशर माधव (III,–158)
(ख) वृहद्धर्म पुराण (III,–2)

2 मत्स्यपुराण (217–163–6)

3 मनुस्मृति (8–124)

ब्राह्मणो का एक अन्य वर्ग था। देवलक अपनी जीविका मूर्तिपूजा से प्राप्त होने वाले धन से चलाता था। ब्राह्मण को जाति व्यवस्था के अतर्गत सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। जन साधारण के सभी संस्कार भी ब्राह्मणो द्वारा जिन्हें पुरोहित कहा जाता था, सपन्न कराया जाता था। सामाजिक सरचना में ब्राह्मणो का महत्व बहुत अधिक था। परन्तु इनका जीवन सयम से बंधा था स्मृतियो मे ब्राह्मण के लिए मास व सुरा का प्रयोग वर्जित था। [1] प्रत्येक ब्राह्मण अपने लिए निर्धारित नियमो का कट्टरता पूर्वक पालन करता था। जोनराज ने लिखा है कि राजा लक्ष्मदेव जो कि जाति से ब्राह्मण था, उसे क्षत्रिय राजा रामदेव ने निसतान होने के कारण अपना दत्तक पुत्र बनाया था, ने क्षत्रिय राज धर्म का पालन करते हुए भी ब्राह्मणों के स्वधर्म का त्याग नही किया। [2] कालान्तर मे ब्राह्मणो के नियमबद्धता मे अंतर आया और उनकी जीवन शैली मे पूर्वकाल से काफी परिवर्तन हो गया।

क्षत्रिय

शास्त्रो के अनुसार शासन करना, प्रजा की रक्षा करना तथा युद्ध मे हिस्सा लेना क्षत्रिय वर्ग के विशिष्ट कर्म थे। शासक वर्ग होने के कारण इनके अपने विशेषाधिकार भी थे। इस काल मे राजपूत जाति का अभ्युदय हुआ था। राजपूत जाति तथा शासको मे अनेक विशिष्ट गुण विद्यमान थे। इनमे राष्ट्र प्रेम की भावना कूट–कूट कर भरी होती थी। इनमे वंशगत रक्त शुद्धता की भावना थी। पराशर माधव मे क्षत्रिय वश के कार्यो का विस्तृत

---

1 पराशर माधव (**III,**–409–13)

2 क्षत्रीकृतोऽपि नामुचत् स्वधर्म द्विजभूपति ।
न माणिक्यश्रियं धत्ते रजितोऽश्मापि जातुचित् ।।
जोनराज कृत राजतरंगिणी (श्लोक– 114)

वर्णन है। इन के अनुसार राजा का कर्त्तव्य दुष्ट को दण्ड देना व सज्जन की रक्षा करना है। लोगो की रक्षा करने के लिए शस्त्र धारण करना केवल क्षत्रिय का अधिकार है। अपने वशगत अभिमान के लिए ये प्रसिद्ध थे। इनमे बलिदान तथा उच्च आदर्श के अपूर्व उदाहरण प्राप्त होते है, जिसकी छाप इस काल के इतिहास पर पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है। आत्मसम्मान के लिए ये अपने प्राण गवा देते थे परन्तु सम्मान पर आच नही आने देते थे। इस जाति की स्त्रियो ने भी ऐसी ही मिसाल कायम की है। राजपूत सैनिक व सेनापति वर्ग मे बहुविवाह प्रचलित था इसी कारण इनका अनेक जाति की स्त्रियों मे विवाह होना स्वाभाविक था। ये शरणागत की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य मानते थे।

जिस प्रकार ब्राह्मणों के लिए पुराण व स्मृतियो का अध्ययन करना, तप, व्रत करना परम कर्तव्य था। उसी प्रकार क्षत्रियो के लिए शस्त्र विद्या का ज्ञान होना व युद्ध कला मे प्रवीण होना अत्यंत आवश्यक था। इनका वर्णन स्मृतियों व शास्त्रो मे है। उनके अनुसार राजपूत अपने अतिथि सत्कार के लिए विख्यात है। [1] शासक होने के कारण इनका एक अन्य कर्तव्य प्रजा को न्याय दिलाना भी था तथा साथ ही प्रजा के सुख–दु:ख का भी ध्यान रखना था। हालांकि राजनीतिक दृष्टिकोण से इस काल को राजपूत काल की संज्ञा दी जाती है, एक शक्तिशाली वर्ग होने के कारण धर्म, समाज काव्य, साहित्य, कला तथा स्थापत्य, आर्थिक व्यवस्था आदि जीवन के सभी क्षेत्रो पर इनका गहरा प्रभाव है।

---

1 (क)गृहस्थ रत्नाकर (249)

कृत्य कल्प तरु मे मनु के अनुरूप ही लोक रक्षा के लिए राजा को लोक पालो (इन्द्र, वरुण, अग्नि, मित्र, वायु, सूर्य आदि के) तत्वो से उत्पन्न घोषित किया गया है। राजाओ की उत्पत्ति से जुडा यह सिद्धात अपने मूलार्थ मे दैवीय सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है। क्षत्रिय समाज के एक प्रमुख अग थे व उनका प्रमुख कार्य शासन व्यवस्था को सुचारु बनाना व शास्त्रार्थ के प्रयोग से प्रजा की रक्षा करना था जिससे प्रजा एक योग्य शासक के सरक्षण मे चैन व अमन से रह सके।

वर्ण व्यवस्था की तीसरी श्रेणी वैश्यो की है। इस वर्ण के लोग सदैव की भाति व्यापार, कृषि, पशुपालन आदि में सलग्न थे। पशुपालन तथा कृषि व्यवसाय में लगे हुए लोगो की सामाजिक प्रतिष्ठा कम होती जा रही थी। इनमे भी कई उपजातियॉ थी। इस काल मे भी व्यापारी संघ शिल्प के रूप में सगठित थे। ये समाज की अर्थ व्यवस्था के मूलाधार थे, इनके द्वारा जीविका के लिए किये गये कार्यो से समाज की आर्थिक व्यवस्था का संचालन होता था। समाज में इन्हे सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, ये अपनी जाति में ही विवाह करते थे। देश की समृद्धि इनका मूलभूत योगदान था। प्राय· उस समय तक वैश्य काफी सम्पन्न हो चुके थे। अत· अपने लिए निर्धारित कृषि कर्म ये स्वय न करने शूद्रों से करवाते थे। शिल्पकार अपनी उत्कृष्ट कला के कारण राजदरबार मे भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेते थे।

ग्यारहवी शताब्दी से ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण जाति का अभ्युदय हुआ, इनका वर्णन इतिहास व अभिलेखो मे भी आया है। ये जाति है 'कायस्थ'। यह जाति बुद्धि व चातुर्य मे सबसे अग्रणी थी अत इसी कारण

इनको हमेशा ही राजदरबार मे विशिष्ट पद प्रदान किया जाता था। गुप्त काल के अतिम समय के अभिलेखो मे 'करण' (लिपिक) का उल्लेख हुआ है, जो अनेक प्रकार के प्रशासकीय अधिकारी होते थे। नवी शताब्दी तक ये 'कायस्थ जाति' के रूप मे सगठित हो चुके थे। ग्यारहवी शताब्दी के बाद तो कायस्थो के उच्च प्रशासकीय पदो पर नियुक्त होने के उल्लेख प्राप्त होते है। इसी काल मे कायस्थो की उत्पत्ति से सबधित कई मिथक निर्मित हुए।

वर्ण व्यवस्था की चौथी श्रेणी शूद्रो की है। इन जाति के लोगो का कार्य अन्य तीन जातियो की सेवा करना था। पूर्ववर्ती काल की भाति साधारण रूप से शास्त्रीय व्यवस्था शूद्र के प्रति अनुदार ही रही। पराशर तथा लघुव्यास आदि स्मृतियो मे शूद्र के हाथ का भोजन तथा उनसे सम्पर्क वर्जित है। स्मृतियो मे शूद्रो के अधिकारो के बारे मे बताया गया है। [1] परन्तु इस सदर्भ मे परस्पर दो विरोधी तथ्यो का ध्यान रखना होगा अनेक शास्त्रीय नियमो का व्यवहार मे पालन नही होता था और वे आदर्श व्यवस्था के रूप मे थे। शूद्रो की दयनीय तथा निर्बल स्थिति एक सामाजिक वास्तविकता थी क्योंकि आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था विशेष रूप से भूमि व्यवस्था प्रायः उच्च वर्ण के हित में थी। शूद्रो से कोई भी कार्य जबरन कराया जाता था और अपनी निम्न स्थिति के कारण वे उस कार्य को करने के लिए बाध्य थे। जोनराज ने राजतरंगिणी में चाण्डालों (डोमो) की स्थिति का वर्णन किया है। राजा डोम को लोहे की बेडी से जकड कर सदैव उनसे मृत कर्म करवाता था। [2] मेधातिथि ने शूद्रों से सेवाकार्य तथा इनमें से कुछ वर्गों के दासत्व को

---

2 अनिध्नकरूणानिध्नो नरेन्द्रो डोम्बतस्करान्।
बन्ध्याग्निगडैर्गाढ मृत्कर्माकारयत् सदा ।। जोनराजकृतराजतरंगिणी (152)

1 पराशरमाधव (I,,257–58)

स्वीकार करते हुए भी शूद्रो की व्यक्तिगत स्वतत्रता को मान्यता प्रदान की है।[1] शूद्र भी कई उपजातियो मे विभक्त थे। ऐसा उदाहरण मिलता है कि इनमे कुर्मी जाति के लोग अत्यन्त सम्पन्न किसान थे। वैसे तो समाज में हमेशा ही इन्हे नीची निगाह से देखा जाता था, सताया व दबाया जाता था। किन्तु अपनी मेहनत के कारण यदि ये सम्पन्न हो जाते थे तो समाज मे इनकी स्थिति कुछ अच्छी हो जाती थी। मनु द्वारा उल्लिखित शूद्र शिष्य पर मेघातिथि का भाष्य है कि "कभी–कभी शूद्र वर्ण के लोग व्याकरण तथा अनेक प्रकार के शिल्प विज्ञानो का अध्ययन करते थे।" शास्त्रीय व्यवस्था के बावजूद शूद्रो के शासक तथा योद्धा होने के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। नारद स्मृति के भाष्यकार ने आपात काल मे शूद्रो द्वारा क्षत्रियो के कर्म अपनाने की भी व्यवस्था दी है। किन्तु शोषण के प्रश्रय देने वाली इस काल की वर्ण व्यवस्था मे ये उदाहरण अपवाद स्वरूप ही रहे होगे। दास–प्रथा की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। दासो की कई कोटियॉ थी साधारण रूप से दास प्राय· शूद्र कोटि से ही बनाये जाते थे। वैश्य अपनी खेती के लिए शूद्रों का कृषक मजदूर के रूप में इस्तेमाल करते थे। साधारण रूप से गृहदासो की स्थिति बधुआ खेतिहर मजदूरो से बेहतर थी। राज दरबार मे भी इन्हीं जातियो मे से दास व गुलाम बनाये जाते थे, जिनका सामाजिक जीवन नहीं के बराबर था ये किसी भी कार्य के लिए स्वतंत्र नहीं थे इन्हे अपने हर कार्य के लिए अपने मालिको पर आश्रित रहना पडता था।

इसके अतिरिक्त चाण्डाल, सोपाक आयोगव, अबष्ट, सूत मगध आदि जातियॉ वर्ण सकर कोटि में आती थी,[2] जिन्हें वर्ण व्यवस्था मे बंधे हुए

1 मदन परिजात (133)

2 मध्यकालीन भारत, एल पी शर्मा (18–24)

समाज मे सीमित धार्मिक अधिकार व स्वतत्रता प्राप्त थी। उन्हे अस्पृश्य माना जाता था, किन्तु इस काल मे धोबी, चर्मकार, नट, मदारी, कैवर्त (केवट मल्लाह) आदि पेशे के लोग भी अछूत की श्रेणी मे आ गये थे। [1] साथ ही शबर, गोड, भील, पुलिद आदि जनजातियो की अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ विन्ध्य, बिहार, बगाल, मध्य प्रदेश तथा दक्कन मे रहती थी। ये लोग आशिक रूप से खेती व जगली जानवर का शिकार करके जीवन–यापन करते थे ।

तत्कालीन समाज मुसलमान शासकों के वर्णन के बिना अपूर्ण है। क्योंकि उस युग मे मुसलमानों का राज्य था, हालांकि मुसलमान, इस देश के बाशिदे नहीं थे। उनका आगमन विदेशी आक्रमणकारियो के साथ हुआ था तथापि वे इस देश मे इस प्रकार रच–बस गये थे मानों उनका जन्म यही हुआ हो। मुसलमानो के भारत आने से पहले भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था किन्तु मुसलमानो के आगमन से उसका विभक्तीकरण बढ गया। समाज का सबसे सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानों का था। वह भारत का शासक वर्ग था। इस कारण वह सबसे अधिक प्रभावशाली व विशेष अधिकारों से युक्त था। राज्य के सभी बडे–बडे पद उस वर्ग के व्यक्तियो के लिए सुरक्षित रखे जाते थे, बडी–बडी जागीरे उन्हे प्राप्त होती थी तथा समाज व शासन मे उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ था।

परन्तु विदेशी मुसलमान भी विभिन्न वर्गों मे विभक्त थे। तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अबीसीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे। 13वी शताब्दी तक तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित रखी और उन्होंने अन्य विदेशी मुसलमानो को

समानता का दावा नही करने दिया। परन्तु 14 वी सदी के आरम्भ मे इस स्थिति मे परिवर्तन आया खलजियो द्वारा शासन सत्ता प्राप्त करते ही तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा परस्पर विवाह सबधो व बदली हुई परिस्थितियो ने सभी विदेशी मुसलमानो का स्तर एक सा कर दिया।

समाज का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानो का था, ये वे ही मुसलमान थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे अथवा ऐसे परिवर्तित मुसलमानों की सतान थे। विदेशी मुसलमानो ने भारतीय मुसलमानों को कभी अपने समान नही समझा, क्योंकि उन्हे न तो भारत का विजेता माना गया और न श्रेष्ठ नस्ल का। अधिकांश भारतीय–मुसलमान निम्न हिन्दू जातियों में से मुसलमान बने थे अतः विदेशी मुसलमान उन्हे हेय दृष्टि से देखते थे। भारतीय मुसलमानो को शासन व समाज में बराबर का स्थान नहीं दिया गया । सम्पूर्ण सल्तनत युग में कतिपय भारतीय मुसलमान ही ऐसे हुए जिन्हें राज्य मे विशिष्ट पद प्राप्त हुए। 14 वी शताब्दी में खिलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु तब भी भारतीय मुसलमान निम्न स्तर पर ही रहे यह स्थिति मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता को ही दर्शार्ती है। हिन्दू जाति व्यवस्था का प्रभाव भी मुसलामाने पर पडा मुख्यतया धर्म परिवर्तित मुसलमान अपनी हिन्दू जाति के प्रभाव से मुक्त न रह सके। मुसलमान बनने के पश्चात् भी उन्होंने अपने जाति विभेद को स्थापित रखा जिसके कारण वे विभिन्न वर्गो मे बटे रहे। इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान नस्ल व उत्पत्ति के आधार पर विभिन्न वर्गो में बंटे हुए थे। धर्म, शिक्षा व जीविका के आधार पर भी मुसलमानो के विभिन्न वर्ग थे। शिया व

सुन्नियो मे अतर था। सैनिक व विद्वानो मे अतर था। तथा धार्मिक कृत्यो को करने वाला उलेमा–वर्ग उन सबसे पृथक था। लेखनी से जीविकोपार्जन करने वाले मुस्लिम वर्गो मे सबसे अधिक प्रभावशाली लोग धर्माधिकारी लोग थे जो उलेमा कहलाते थे। वे मुसलमानो के पादरी थे उनका समुदाय वशानुगत नही था। परन्तु ये पद भारतीय मुसलमानों के पहुँच मे नही था क्योंकि इस युग मे भारतीय मुसलमान धर्माधिकारियों के उच्च पद पर नही पहुँच सकते थे। इसके बावजूद उलेमा का एक सुसगठित समाज था और ये अपने अधिकारो को भली–भांति समझते थे। न्याय, धर्म तथा शिक्षा संबंधी नौकरियों पर उनका एकाधिकार था। इनमे से कुछ निजी तथा राजकीय शिक्षा संस्थाओं में अध्यापको का कार्य करते थे और कुछ ने अपने मदरसे स्थापित कर लिये थे, जो इस्लाम धर्म प्रचार का अड्डा था। यहाॅ विद्यार्थियों को कट्टर इस्लाम व हिन्दू विरोधी शिक्षा दी जाती थी। परिणामस्वरूप हिन्दू व मुसलमान सम्प्रदाय मे एक स्वाभाविक घृणा व कटुता के भाव ने जन्म लिया जो समय के साथ–साथ बढती ही रही, घटी नही। जिसका कुपरिणाम आज के समाज में भी व्याप्त है। उलेमाओ के प्रभाव से ही हिन्दू व मुसलमान एक ही समाज में एक साथ रहते हुए भी वैचारिक रूप से कभी एक न हो सके। उलेमाओ मे अनेक कातिब, मुहतासिब, मुफ्ती तथा काजी थे और कुछ ऐसे थे जो अपनी शक्ति तथा समय धर्म प्रचार मे व्यय करते थे। सरकार तथा सामान्य जनता पर उनका बहुत प्रभाव था। इस युग (मध्य युग) के सभी इतिहास लेखक ही नही बल्कि साहित्यिक व्यक्ति भी इसी समुदाय के थे। सभी उलेमा मुस्लिम धर्मशास्त्र मे पारंगत होते थे। उनमें से प्रत्येक को विवाद–ग्रस्त धार्मिक

विषयो पर फतवा देने का अधिकार था। तुर्की सल्तनत की स्थापना के समय से ही उलेमा वर्ग अत्यधिक प्रभावशाली था तथा सुल्तान व उसके महत्वपूर्ण कानूनी विषयो पर ही नही वरन् राज्य की नीति सम्बन्ध में भी उनकी सलाह ली जाती थी। इसलिए धीरे–धीरे उनकी स्थिति बहत महत्वपूर्ण हो गई थी।

मुस्लिम समाज के सबसे निचले स्तर पर शिल्पी, दुकानदार, क्लर्क तथा छोटे व्यापारी सम्मिलित थे। इस सम्पूर्ण युग मे मुसलमान अधिकतर नगरो मे बसते थे, गावो मे उनकी सख्या बहुत कम थी। गुलामो को भी हम इसी श्रेणी मे शामिल कर सकते हैं और इस युग मे उनकी सख्या भी बहुत बडी थी। प्रत्येक शासक, सामत तथा धनी व्यक्ति के यहॉ, चाहे वो नौकरी करता हो, या व्यवसाय, अनेक गुलाम होते थे, उनसे घरेलू टहल करवायी जाती थी और बहुत से राजकीय कारखानों मे काम करते थे। मुसलमान भिखारियो की भी बहुत सख्या रही होगी क्योंकि दरिद्रता को धार्मिकता का आधार माना जाता था।

साधारणतया हिन्दू धर्मपरायण, सच्चरित्र और सात्विक विचार धारा के थे। उन्हें तत्कालीन समाज मे राज्य में कोई उच्च पद नहीं प्राप्त होता था। उन्हे हेय दृष्टि से देखा जाता था। मुसलमान उनकी स्त्रियो को प्राप्त करने के अवसर तलाश करते रहते थे, उन पर कर का भार अधिक था और उन्हे सर्वदा अपने सम्मान की सुरक्षा के लिए जागरूक रहना पडता था परन्तु कुछ महत्वपूर्ण पदो से मुख्यतया लगान विभाग से हिन्दुओ को हटाना कठिन था। इसी प्रकार हिन्दू व्यापारी, कारीगर कृषक आदि भी राज्य के लिए महत्वपूर्ण बने रहे। आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओ को सैनिक के रूप मे भी

भर्ती किया गया। परन्तु हिन्दू-समाज की स्थिति स्वय अपनी दुर्बलताओ और मुसलमानो के व्यवहार के कारण सतोषजनक न थी और जो कुछ भी हिन्दू सुरक्षित रख सके वो अपने कौशल व शक्ति के आधार पर ही रख सके।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

आर्थिक-प्रगति

समाज के सुचारू सचालन मे आर्थिक प्रगति का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक दृष्टि से भारत एक समद्धिशाली देश था। उत्तर ही नही दक्षिण भारत मे भी गाव आज भी अर्थव्यवस्था के मेरुदण्ड बने रहे। महमूद गजनवी ने भारत की सम्पत्ति के लालच मे भारत पर आक्रमण किये और यहा से अतुल सम्पत्ति लूटकर ले गया। 14 वीं सदी के अन्त में भारत के एक भाग से तिमूर को अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने दक्षिण भारत से इतनी अधिक सम्पत्ति लूटी थी कि उत्तर भारत मे मुद्रा का मूल्य कम हो गया।[1] इसके अतिरिक्त, भारत के विभिन्न भागो मे अनेक बडे–बडे नगरो और बन्दरगाहो का होना, सभी स्थानों पर सूबेदारों और दिल्ली के सल्तनत के पश्चात् प्रान्तीय सुल्तानो अथवा हिन्दू राजाओं के पास अतुल सम्पत्ति का होना, समाज के उच्च वर्ग का शान–शौकत और विलासिता से जीवन व्यतीत कर पाना, सभी स्थानों पर कलात्मक दृष्टि से प्रगति होना और मुख्यत शानदार मकबरो, मन्दिरों, महलो एवं किलों का निर्माण होना तथा विभिन्न विदेशी यात्रियो द्वारा सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात और मोतियो आदि का भारत में प्रचुर मात्रा मे प्रयोग बताया जाना आदि इस बात के प्रमाण है कि इस युग मे भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न था। भारत की इस अतुल सम्पत्ति का मुख्य कारण भारत की उर्वरा भूमि,

---

1 व्ययस्यातिशयेनाहो कोशो रिक्तत्वमागत ।
प्रार्थ्यन्ते जना. राज्ञः सर्व कल्पतरूनिव।।
जोनराज कृत राजतरगिणी (श्लोक 429)

पर्याप्त प्राकृतिक और मनुष्यकृत सिचाई के साधन, भारतीय किसानो का परिश्रम और इन सुविधाओ के होने से कृषि की स्थिति अच्छी थी। परन्तु कृषि की मात्रा ही इस अतुल सम्पत्ति का कारण नही हो सकती थी। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है परन्तु आधुनिक मशीनी युग के आरम्भ होने से पहले भारत एक उद्योगप्रधान और व्यावसायिक देश भी रहा था। भारत की बनी हुई वस्तुएँ प्राचीन काल से दक्षिण–पूर्व पश्चिम, मध्य–एशिया और यूरोप तक विख्यात थीं। इस कारण भारत उद्योग और उसका व्यापार सर्वदा ही भारत के पक्ष मे रहा और यही उसकी समृद्धि का कारण रहा। इस युग मे भी यही स्थिति थी। कृषि उत्पादन के साथ–साथ भारत के उद्योग और उसका व्यापार भी बहुत अच्छी स्थिति मे था। तत्कालीन शासको ने कृषि व्यापारव्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु बिक्री प्राधिकरण की स्थापना की। [1]

कृषि–बागवानी और पशु–पालन–भारत मे प्राय सभी स्थानो पर होते थे। अधिकाश फसले वर्ष मे दोबार उत्पन्न की जाती थी परन्तु कही–कही फसले तीन बार भी उत्पन्न की जाती थी। [2] गेहूं, चावल, गन्ना, तिलहन, नील, जौ, मक्का, बाजरा, पान, अदरक, गरम मसाला और विभिन्न प्रकार के फल सब्जिया उगाई जाती थी। [3] सरसुती का चावल, कन्नौज की शक्कर, मालवा का गेहू और पान, ग्वालियर का गेहू, मालाबार के गरम मसाले और अदरक, दौलताबाद के अगूर और नाशपाती, विभिन्न प्रकार के

---

1 भूमिविक्रयभूर्जादि कृतचिह्न महीभुजा।
निह्नवप्रागभावाय धर्माधिकरणकृतम्।। जोनराज कृत राजतरगिणी (श्लोक 882)

2 द्रष्टव्य– वही –(837)

3 द्रष्टव्य– वही –(210)

सन्तरे दक्षिण भारत की सुपाडी आदि प्रख्यात थी। बारबोसा ने लिखा है कि बहमनी राज्य मे कृषि, पशुपालन और फलो के बाग बहुत अच्छी स्थति मे थे और शहर ही नही वरन् गाव भी समृद्व थे। [1] तालू–नाद (तमिलनाडु) मे चावल बहुत अच्छा होता था। गुजरात मे भी सभी सामान बेहद सस्ते थे। विजय नगर की समृद्धि के बारे मे सभी यात्रियों ने विशद वर्णन किया है। उडीसा मे बाग और पशुपालन इतना अधिक था कि पशुओ के खरीददार नही मिलते थे। बारबोसा के अनुसार बंगाल मे कपास, गन्ना, चावल अदरक आदि अत्यधिक मात्रा मे उत्पन्न किया जाता था। दोआब का सम्पूर्ण क्षेत्र अपनी उर्वरा शक्ति के लिए प्रसिद्व था। इस प्रकार भारत के सभी क्षेत्रों मे कृषि की स्थिति बहुत अच्छी थी। कृषि के साथ–साथ दूध देने वाले पशुओ का पालन भी किसानो का एक मुख्य पेशा था। इससे भी अधिक खाद्य वस्तुएं प्राप्त होती थी। उस समय जगल व चारागाह प्रचुर मात्रा मे थे। यह सभी कुछ मिलाकर इतना अधिक था कि भारत अपने खाने और उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् भी अनेक वस्तुओ का निर्यात कर पाता था।

उद्योग–धन्धे

उद्योगो की दृष्टि से भी भारत अच्छी स्थिति मे था। कपडे का उद्योग भारत का एक प्रमुख उद्योग था। सूती, रेशमी और सभी प्रकार के रगो के वस्त्र भारत में बनाये जाते थे। मलमल,

---

1 General Description of Indian Agricultural Product and Trees.- Rehla of Ibnbatoota (16-19)

आरकण्डी, छीटे, रेशमी रूमाल आदि प्रचुर मात्रा मे तैयार किये जाते थे।

सूती वस्त्रोद्योग

यह प्राचीन उद्योग रहा है, जिसका विस्तार मध्यकालीन समय मे भी हुआ। उस समय का यह सबसे बडा उद्योग था, जिसका विस्तार सम्पूर्ण देशमे था। इसके मुख्य केन्द्र बगाल, गुजरात, उडीसा और मालवा में थे। सूरत, काम्बे, पटना, बुरहानपुर बाद में दिल्ली, आगरा, लाहौर, मुल्तान ठट्टा जैसे मुख्य शहर भी विशेष प्रकार के कपडे बनाने के लिए प्रसिद्ध हो गये। ढाके का मलमल सारे ससार में अपनी बारीकी के लिए मशहूर था। सोनार गांव में अति उत्तम प्रकार का मलमल तैयार किया जाता था। अबुल फजल ने अपनी पुस्तक आइन–ए–अकबरी मे खान देश के सूती कपडे का उल्लेख किया है दक्षिण का खासा और लाहौर तथा लखनऊ का चिकन भी बहुत मशहूर था। बुरहानपुर तथा मछली पट्टम में छीट के बाजार थे। सरहिन्द के कपडे की विशेषकर लाल सालू और छीट की मांग बहुत थी। समाना और सुल्तानपुर उत्तम वस्त्रो के लिए प्रसिद्व थे। दिल्ली में छीट और रजाई तैयार होती थी और आगरे मे दरियो के अलावा बडे पैमाने पर सूती कपडे तैयार होते थे। जौनपुर आज भी उत्तम प्रकार की दरी तैयार करने के लिए विख्यात है। दक्षिण में पुलिकट तथा कान–पे–मेई (कोटांबतूर) सूती कपड़ा उद्योग के मुख्य केन्द्र थे। ढाका मलमल के वस्त्र के बारे मे यह खास बात थी कि इसकी बनी पोशाक एक अगूठी से निकल जाती थी। [1]

---

1 रेहला आफ इब्नबतूता (I–127 –141–42–,161)

रेशम उद्योग

कासिम बाजार, माल्दा, मुर्शिदाबाद, पटना, कश्मीर और बनारस मे रेशम उद्योग के मुख्य केन्द्र थे। हालाकि गुजरात मे रेशम का उत्पादन नही होता था। किन्तु वहा रेशम की बुनायी का काम अच्छा होता था। काबे (खबात) की रेशम की माग इतनी अधिक थी कि अलाउद्दीन खिलजी को उसकी ब्रिकी नियत्रित करनी पडी। रेशम से तथा रेशमी, सुनहले सोने तथा चादी मढे सूतो से सूरत मे दरिया तैयार होती थी। बगाल उत्तम प्रकार की रेशमी चटाइयो के लिए महशूर था। इन्हे 'शीतल पाटी' के प्रचलित नाम से पुकारा जाता था।

गुजरात भी किमखाब, बदला–कुर्ता कसीदाकारी के वस्त्र तथा किनारी आदि के लिए मशहूर था। कांबे उत्तम प्रकार के तथा मामूली कपडे और छपे कपडे तैयार करने का मुख्य केन्द्र था। यहां के रेशमी कपडो की अच्छी माग थी। असम मे भी कई प्रकार के वस्त्र तैयार होते थे। विशेषकर रेशमी कपडो के लिए मध्यकालीन समय मे असम अधिक मशहूर था। उसके विकास मे 'खासी', 'नगा', 'मणिपुर' तथा 'वडोज' जैसी जनजातियो ने यथेष्ट योगदान दिया। दक्षिण मे कोयंबतूर के समीप रेशम उत्पादन का एक बडा केन्द्र था। कर्घे के लिए कच्चा रेशम तैयार करके उसे अनेक रगों मे रंगा जाता था तथा विभिन्न प्रकार के फूलदार वस्त्र तैयार किये जाते थे।

ऊन उद्योग

देश मे काबुल, कश्मीर तथा पश्चिमी राजस्थान मे ऊन तैयार

करने के प्रसिद्ध केन्द्र थे। किन्तु उत्तम प्रकार की ऊन तिब्बत से आती थी। कश्मीर के शाल बहुत मुलायम तथा गर्म होते थे। कश्मीर ऊनी वस्त्र तैयार करने का प्रसिद्ध केन्द्र था। शाल बनाने वाले अन्य केन्द्र, लाहौर, पटना, आगरा तथा फतेहपुर सीकरी थे। फतेहपुर सीकरी मे उत्तम प्रकार की दरिया भी बनायी जाती थी। उद्योग के अन्य केन्द्र बुरहानपुर, जौनपुर, अलवर तथा अमृतसर थे।

रंगाई तथा 'कैलिको छपाई–रगाई उद्योग तथा कैलिको छपाई भी यहां उल्लेखनीय है। लाहौर से लेकर अवध तक देश में पर्याप्त मात्रा मे नील का उत्पादन होता था तथा लोग भी चमकीले रगों मे रूचि रखते थे। दिल्ली सूती वस्त्र रगने मे विशेष रूप से बाधनी की रंगाई के लिये प्रसिद्ध था। बैना तथा समीपवर्ती क्षेत्रो की रगाई का काम अति उत्त्तम माना जाता था। दूसरे प्रकार की उत्तम रंगाई गुजरात में सरखेज तथा गोल कुण्डा मे की जाती थी। रंगाई के महत्वपूर्ण केन्द्र आगरा, अहमदाबाद, लखनऊ, फरूर्खाबाद तथा मछली पट्टम थे।

धातु उद्योग

भारत मे मध्यकाल मे धातु का उद्योग भी काफी प्रगति पर था। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के धातु के उद्योग विभिन्न जगहो पर थे।[1]
लोहा तथा इस्पात–भारतीय धातुकार्मिक लोहा, पीतल, चांदी, जस्ता, अबरख आदि विभिन्न धातुओ के उपयोग को भली भांति जानते थे। दिल्ली में लोहे का प्रयोग घरिया, तलवारे, हथियार तथा बरछो के बनाने मे किया जाता था।

1 बारबोसा (I–142–144) काम्बे और लिम्बोडरा
बारबोसा (II–106) मध्यकालीन इतिहास
वही (II–116) कापत और सिलोन

11 वी शताब्दी मे सर्वोत्तम तलवारे बनारस, सौराष्ट्र तथा कलिजर मे बनती थी। लाहौर, सियालकोट, मुल्तान तथा गुजरात और गोलकुण्डा के प्रान्त भी इसके लिए मशहूर थे। गुजरात मे निर्मित जमधार तथा खपवा छुरे और धनुष तथा तीरो की बडी माग थी। सियाल कोट तथा मेवाड की तोडेदार बन्दूक सर्वोत्तम होती थी। कृषि के औजार भी, जिन्हे किसान प्रयोग में लाते थे पूर्णत या मिश्रित रूप से लोहे के बनते थे।

सोना और चांदी

कासा और चादी का काम करने वाले सुनार तथा कारीगर अन्य सभी प्रान्तो मे थे। बनारस, दिल्ली, गुजरात तथा आगरा सुन्दर जडाऊ आभूषणो के लिए प्रसिद्व थे उनके यहा सोने व चांदी के बर्तनों पर बहुत सुन्दर चित्रकारी भी होती थी। तत्कालीन मध्ययुग मे मन्दिरो के लिए दक्षिण मे भिन्न प्रकार के जवाहरात उपयोग मे लाये जाते थे। बादशाह, राजा तथा अमीर अनेक प्रकार के आभूषण पहना करते थे जो कि सुनारो के द्वारा बडी सुन्दरता व उत्कृष्टता से गढे जाते थे। बर्तनों पर सुन्दर जडाऊ चित्रकारी के लिए बीदर मशहूर था, इसमें पानदान, अबाखोराज, रकाबी छोटे, बडे प्याले तथा मोमबत्तीदान प्रमुख है। गुजरात कलमदान व कलापूर्ण सन्दूको के लिए प्रसिद्व था। बनारस ताम्बे और पीतल के सामान के प्रसिद्व था जबकि लखनऊ और दिल्ली ताम्बे के लिए। ताम्बे को सिक्को लिए भी प्रयोग मे लाया जाता था।[1] मध्यकालीन सम्पूर्ण काल मे ताम्बे के सिक्के अधिकांशतः प्रयोग मे लाये जाते थे। ताम्बा अधिकतर उत्तर भारत के खानो से मुख्यत. बिहार के

---

1 ता खण्डयित्वा विहतैस्टंकैर्मन्नामचिह्नितै ।
व्ययनिर्वहण कीर्तिस्थिरत्व च जायते।। (जोनराजकृत राजतरगिणी 431)

'सिहभूम जिले मे' , 'कुमाऊ' तथा 'बेराट' और राजस्थान मे 'चैनपुर', 'सिघना' 'उदयपुर', 'कोटपुथली' तथा 'बबाची' मे प्राप्त होता था। रायपुर तथा नारनौल के समीप भी ताम्बे की खान विद्यमान थी। [1]

शीशा उद्योग

12 वी, 13 वी शताब्दी मे शीशे के बर्तनो का उल्लेख मिलता है। दक्षिण मे विभिन्न स्थानो पर शीशे से रंग बिरगे कडे, मनके तथा प्याले बनाये जाते थे। कोल्हापुर, सतारा, शोलापुर बीदर, गोरखपुर, अहमद नगर, आदि शीशा उद्योग के लिए प्रसिद्ध केन्द्र थे।

कागज उद्योग

यद्यपि कागज के प्रयोग के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते है परन्तु यह उद्योग सुविकसित नहीं था। अमीर खुसरो ने कोरे तथा रेशम की भांति शमी अथवा सीरियन कागजो के दिल्ली में बनाये जाने का उल्लेख किया है। चीनी यात्री महुआन, जिसने सुल्तान गियासुद्दीन आजमशाह (1389–1409) के राज्य में बंगाल का भ्रमण किया था, ने वृक्ष की छाल के समान श्वेत चमकीले कागज के निर्माण का उल्लेख किया है। इसके मुख्य उद्योग पटना, दिल्ली, राजगीर, अवध अहमदाबाद, गया, शहजादपुर (इलाहाबाद के समीप) तथा सियाल कोट थे। सर्वोत्तम कागज कश्मीर मे उपलब्ध होता था। [2]

चमडा उद्योग

मध्य युग मे चमडे के विभिन्न प्रकार के सामान की विशेषत

---

1 बारबोसा (I,200) (पुलचित विजयनगर) तथा वही (II–217–226) (मालद्वीप)

2- The Commercial Products of India- watt

घोडो के लिए काठी तथा लगाम, तलवार के लिए म्यान, जूते, पानी के बर्तन (मशक) आदि के अत्यधिक माग थी। बगाल व सिध मे बने चमडे के सामान उत्तम माने जाते थे। दिल्ली मे भी एक चमडा उद्योग स्थापित था। गुजरात अपनी सोने चादी से कढी चमडे की चटाईयो के लिए प्रसिद्व था। वहा चमडे का सामान बडी मात्रा मे बनता था और उनका निर्यात अरब देशो मे होता था। इसके अतिरिक्त चीनी, मिट्टी के बर्तन, खिलौने तथा गुडिया, सुगधित द्रव्य, पत्थर तथा काष्ठ कार्य, चटाई–टोकरी और हाथी दात का कार्य आदि उद्योग के रूप मे स्थापित था। जिससे मध्यकालीन देश के आर्थिक स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा।

व्यापार तथा वाणिज्य

स्थल व्यापार

भारत मे आन्तरिक व विदेशी व्यापार प्रचुर मात्रा मे होता था। भारत मे दूरस्थ प्रदेशो को जोडने वाली सडके पर्याप्त मात्रा मे थी और विभिन्न नगर, भिन्न –भिन्न वस्तुओं की व्यापारिक मण्डिया बनी हुई थी। दिल्ली सुल्तानो की राजधानी थी अतः वह विभिन्न स्थल मार्गो द्वारा सल्तनत के विभिन्न मार्गों से जुडी हुई थी, जिसके द्वारा केवल व्यापार ही नहीं होता था अपितु समुद्र तट तक अथवा भारत की स्थल सीमा तथा वस्तुओं को पहुचा कर उन्हे विदेशों मे भेजा जाता था।

समुद्री व्यापार

पुरातन समय से ही भारत के बाह्य देशो के साथ सम्बन्ध थे।

भारत को पश्चिम देशो के साथ मिलाने वाले दो मुख्य सीधे समुद्री मार्ग थे एक तो फारस की खाडी वाला तथा दूसरा लाल समुद्र वाला। फारस की खाडी वाले समुद्री मार्ग से ही व्यापार ज्यादा सुलभ था, ये रास्ता ईराक मे बगदाद से चीन मे कैटन तक जाता था। काबे, किलन तथा कालाकर जैसे बहुत से बदरगाहो से भारतीय सामान लाया जाता था। भारतीय माल वहा से अफ्रीका के समुद्री तट दश्मिक और सिकदरिया तथा यूरोप के विभिन्न देशो को ले जाया जाता था। इन बदरगाहो से माल चीन, लका, इण्डोनेशिया तथा भारतीय टापुओ को जाता था। भारत मे अनेक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह थे जहां से विश्व के अनेक मार्गो से बहुत बडी सख्या मे व्यापारी आते थे। अफगानिस्तान, फारस तथा मध्यएशिया के साथ मुल्तान, कोटा खैबर पास के रास्ते से स्थल मार्ग व्यापार के अतिरिक्त माल कारोमण्डल समुद्री तट के रास्ते से फारस ले जाया जाता था। [1]

निर्यात

मध्यकाल मे भारतीय निर्यात की मुख्य वस्तुंए रूई से बनी वस्तु, अनाज, तेल, बीज, ज्वार, चीनी, चावल, कपूर, लौग, इलायची, केसर, नारियल, अफीम, काली मिर्च, लहसुन और जानवरो की खाले भी थी। [2]

विदेशो मे भारत के रूई से बने वस्त्रो व वस्तुओ की बहुत माग थी। यह माग, जावा, सुमात्रा, बोडा, मलाया, बोर्नियो, पेगु, स्याम बेटम आदि पूर्वी देशों तक ही सीमित नहीं थी। हालैण्ड आदि मे भी इसकी विशेष मांग थी। [3]

---

1 इब्नबतूता (यात्रा–विवरण) II, 177, 196–199, 231।

2 बारबोसा (यात्रा–विवरण)I, 92–94, 55–56, 64,–65।

3 इब्नबतूता (यात्राविवरण) II, 180, XVI–616–17

हालैण्ड तथा जर्मनी के अतिरिक्त इग्लैण्ड मे भी भारत के सूती वस्त्रो की बहुत माग थी। उत्तम प्रकार की मलमल फारस तथा अरब देशो को विशेषकर मिस्त्र को निर्यात होता था। पुर्तगालियो ने अपने व्यापार का विस्तार उत्तरी पश्चिमी अफ्रीका तक किया था। तथा भारतीय माल की वहा बडी ब्रिकी थी। सूरत बनारस, बगाल तथा अहमदाबाद मे बनी सिल्क, यूरोप वर्मा तथा मलाया को निर्यात होती थी। अफीम जो अधिकतर बिहार तथा मालवा मे होती थी जावा, चीन, मलाया, अरब को समुद्री मार्ग से निर्यात होता था।

आयात

विदेशो से आयात की जाने वाली मुख्य वस्तु बहुमूल्य धातु थी। 'इण्डियन इकोनामिक लाइफ–पास्ट एण्ड प्रेजेंट' नाम की पुस्तक के लेखक ब्रजनारायण ने वान ट्रबिस्ट का हवाला देते हुए यह सूचित किया है कि यद्यपि भारत मे सोने चांदी की खान नही थी फिर भी ये दोनो धातु विदेशो से आयात किये जाते थे इनके निर्यात पर रोक थी।

सोना मुख्यत- द्वीप, समूहो चीन, जापान, मलक्का तथा अन्य सीमावर्ती देशो से, मूंगा, पेगू से तथा मोती, विभिन्न प्रकार के रत्न फारस तथा अरब से आते थे। [1] सोने चादी का आयात लाल सागर के रास्ते से होता था। पारा लिस्बन से आयात होता था। सीसा उत्तम प्रकार के ऊनी कपडे सिल्क, साटन, तथा मखमल के कपडे यूरोप से आते थे।

थल सीमाओं द्वारा व्यापार

भारत मध्य एशिया और अफगानिस्तान मे सूखे मेवे, ताजे फल,

---

1 बारबोसा – इण्डियन ट्रेड आफ कालीकट (**II**, 77) तथा (**I**–43)

हीग, लाल पत्थर आदि का आयात पर्याप्त मात्रा मे करता था। हिमाचल के राज्यो तथा तिब्बत से कस्तूरी, चीनी लकडी, खेतचीनी, अमीरा (आखो की मूल औषधि), बढिया ऊन, सोना, ताबा, सीसा, शहद, सोहागा, मोम से लदे काफिले आते थे। मगोल से सफेद व छपे हुए कपडे, सिल्क तथा कढी हुई वस्तुए, बूटेदार कपडे, गहरे लाल रग, मूगे तथा अम्बर, छोटे हीरे तथा अन्य वस्तुएँ यूरोप से आती थीं। नेपाल पशु तथा सींग, कस्तूरी, सोहागा, जडी–बूटी, इलायची निर्यात करता था बदले मे तैयार वस्त्र, नमक, धातु चीनी, मसाले आदि आयात करता था। घोडों का आयात अत्यन्त महत्वपूर्ण था।[1] तुर्किस्तान मे अजाक लोग भारत को निर्यात करने के लिए घोडे विशेष रूप से पालते थे। इब्नबतूता (अरब यात्री) ने वर्णन किया है कि अदन, क्रीमिया तथा अजाक से अच्छी नस्ल के घोडे भारत को भेजे जाते थे। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार इसकी समृद्वि का एक बडा आधार था।

व्यापार सन्तुलन

इन बातो को देखते हुए व्यापार का सन्तुलन भारत के हक में था। समस्त देशो के व्यापारी भारतीय बन्दरगाहो पर आते थे तथा उपयोगी वस्तुओ, जडी–बूटियो और गोद के बदले सोना तथा रेशम और चांदी के सिक्के देते थे। भारत के समुद्री व्यापार में अरब तथा तुर्की के व्यापारियो ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। खुरासानी व्यापारी चीन, फारस, अरब तथा भूमध्य स्थित देशो के साथ हमारे थल व्यापार मे बडे सक्रिय थे। हमारे व्यापार की बढोत्तरी के लिए विदेशी व्यापारी ही मुख्य रूप से उत्तरदायी थे।

1 इब्नबतूता (यात्रा–विवरण) **II**, 180, (616–17)

बारबोसा (यात्रा–विवरण) **I, 7-8, 22-24, 31-33**

आन्तरिक व्यापार

मध्ययुग के भारत मे आन्तरिक व्यापार के बडे विस्तृत होने के विषय मे विदेशी यात्रियो के वर्णन तथा अन्य समकालीन साहित्य से ज्ञात होता है। प्रत्येक गाव एक छोटा बाजार होता था, इसके अतिरिक्त वार्षिक तथा समय–समय पर मेलो के द्वारा खूब व्यापार होता था। इसके अतिरिक्त फेरी लगाकर माल बेचने वाले व अन्य प्रकार के छोटे व्यापारी थे जो हर प्रकार की चीजे तथा मक्खन, चीनी, शहद, नमक व दैनिक उपयोग की वस्तुओ की ब्रिकी द्वारा उपभोक्ताओ की आवश्यकता पूर्ति करते थे।

व्यापार का स्वरूप

देश के विभिन्न भागो के बीच व्यापार काफी अच्छा चलता था जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। बगाल, पटना, आगरा, लाहौर, गुजरात, सिन्ध, कश्मीर, मालाबार, विजयनगर, मालवा, राजस्थान आदि के बीच व्यापारिक सम्बन्ध थे।

इन क्षेत्रो मे बगाल से खाद्य वस्तुए (चावल, चीनी, मक्खन) नियमित रूप से कोरोमण्डल, केप कामरिन के क्षेत्र से होती हुई करांची तक जाती थी। केरल भी अफीम मगाता था। पटना को चावल व सिल्क के बदले मे गेहू, चीनी तथा अफीम प्राप्त होती थी। आगरा देश तथा विदेशों में उत्तम प्रकार नीलों के लिए बहुत प्रसिद्ध था। यहां से गेहूं भारत के सभी बन्दरगाहों तथा विदेशो को भेजा जा सकता था। व्यापार के अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र लौहार तथा मुल्तान थे। वास्तव मे काबुल, बन्दरगाह, तथा फारस से होने

वाला समस्त स्थल व्यापार इन शहरो से होकर होता था। सर्वोत्तम ऊँट मुल्तान मे होते थे।

पुरातन समय से ही गुजरात वाणिज्य का बडा केन्द्र था। इसके प्राकृतिक ससाधनो ने इसे भारत के धनी तथा प्रगतिशील सूबो मे से एक बना दिया। यहा से कपडे, शोरा आदि गुजरात के मुख्य बन्दरगाह काम्बे द्वारा दक्षिण पूर्व एशिया भारत के दूसरे भागो मे भेजा जाता था। सिंध सल्तनत काल से ही चावल, चीनी, गन्ना, इमारती लकडी के बदले में गेहूँ, जौ, सूती कपडे तथा घोडे सम्पूर्ण भारत मे भेजता था। इसी प्रकार कश्मीर, मालाबार, विजय नगर भी दैनिक उपयोग की वस्तुओ के व्यापार का आदान प्रदान करते थे। इस प्रकार मध्ययुग के भारत मे लगभग सभी नगरो विशेष राज्यो की राजधानियो के बीच लगभग सभी उपयोगी वस्तुओ का व्यापार खूब प्रचलित था।

तकनीकी उन्नति

इस काल मे भारत ने कुछ तकनीकी उन्नति की, जिसने उसकी आर्थिक उन्नति में सहयोग प्रदान किया। यह सर्वविदित है कि गहरे कुओं से सिचाई के लिए पानी निकालने के लिए रहट और नहरों का निर्माण तथा प्रयोग दिल्ली सल्तनत के युग में ही आरम्भ हुआ। इससे सिचाई मे सुविधा हुई और कृषि की उन्नति हुई। [1] इस काल मे कालीन बुनने की कला में भी सुधार हुआ। रेशम के कीडो की खेती को शुरू किया गया। इससे अच्छे

---

1 सनदीमातृकाः कृत्वा धरणीर्देवमातृका ।
अग्रहराननुक्ष्मापो द्विजेभ्यो यददात्सदा।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (879)

कालीन बुनने और रेशम के उत्पादन मे वृद्धि हुई। इन सभी नये अन्वेषणो ने भारत को धनवान बनाने मे सहायता दी। विद्वानो के अनुसार कागज का उत्पादन भी दिल्ली सल्तनत के युग मे प्रारम्भ हुआ जिसने शिक्षा और अर्थव्यवस्था को गम्भीर रूप से प्रभावित किया।

दिल्ली सल्तनत के युग मे हुई तकनीकी प्रगति ने भारत के आर्थिक विकाल मे जो भागीदारी निभायी उसके प्रमाण थे नगरों की सख्या मे वृद्वि, मुद्रा का अधिकाधिक प्रचलन जो व्यापारिक वृद्वि का भी प्रमाण है और बडी सख्या मे विभिन्न प्रकार के कारीगरों की प्राप्ति जो भारतीय आर्थिक प्रगति की समृद्वि तथा विकास मे सहायक हुई।

सिक्के

भारत मे तुर्को के छ सदियो के राज्यकाल मे सिक्के पर्याप्त सख्या में जारी किये गये। परन्तु उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण सिक्का जो समस्त सल्तनत काल में जारी किया गया था, 'जीतल' था जो बाद मे प्रचलित पैसे के बराबर था। चादी का सिक्का जो 'टक' कहलाता था, सुल्तान अल्तमश (1211–1326) ने जारी किया था। इस सिक्के का वजन एक तोला होता था। यह सिक्का साड तथा घुडसवार के सिक्के की तरट था। इसे 'दिल्ली वाल' कहा जाता था। 'दिल्ली वाल' सिक्के मुसलमानो के आगमन के समय तक जारी थे। तथा चांदी व ताम्बे के बने होते थे, जिनका वजन '58' ग्रेन होता था। एक टक मे '64' जीतल होते थे। उसके बाद हस्तकणी जैसे अन्य छोटे छोटे सिक्के होते थे। जो रूपये के आठवे भाग या दो आने के बराबर होते थे। बहलोल लोदी ने (1451–89)'बहलोली' सिक्का जारी किया था। जो

शेरशाह के 'दाम' जैसा था। यह 'टक' का 40 वा भाग होता था। बाद मे सिकन्दर लोदी ने ताबे का टक जारी किया था। ताम्बे के इन 'बीस टको' का चादी का एक टक होता था। स्वर्ण की मोहरे भी होती थी पर सिक्को के रूप मे उनका चलन प्राय नही के बराबर था।

इसी प्रकार कृषि उत्पादन, उद्योगो की उपस्थिति और आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार ने भारत को एक समृद्वशाली देश बनाया। दिल्ली के सुल्तानो तथा प्रान्तीय सूबेदारो और हिन्दू राजाओ के पारस्परिक युद्वों के होते हुए थी भारत अपने को सम्पन्न रख सका था। सल्तनत काल के अधिकांश शासको की उदासीनता के बावजूद भी भारत की यह सम्पन्नता आश्चर्यजनक थी, परन्तु भारत की इस आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य लाभ शासक और व्यापारी वर्ग ने प्राप्त किया था। उन्होने इसे वैभव और विलासिता के समस्त साधनो को अपने शौक को पूरा करने के लिए एकत्र कर लिया था।

जन साधारण की स्थिति शोचनीय तो नही पर बहुत अच्छी न थी। वे अत्यधिक परिश्रम के बावजूद भी किसी प्रकार साधारण स्तर का जीवन व्यतीत करते थे। इसी कारण सूखा और अकाल [1] पडने पर जानमाल का काफी नुकसान होता था। और राज्य को दान दक्षिणा अथवा तकावी कर्जो को माफ करने की आवश्यकता पड जाती थी। निष्कर्ष ये कि सब मिलाकर मध्ययुग का आर्थिक स्तर अत्यधिक ऊचा था फलस्वरूप भारत को सोने की चिडिया की संज्ञा से नवाजा गया था।

---

1 द्रष्टव्य —वही (358)
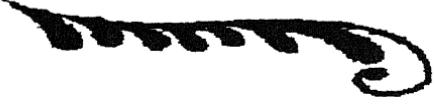
चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

राजनीतिक संस्थाएँ

'प्रशासनिक एवं न्याय व्यवस्था'

राज्य का सिद्धात

मध्यकालीन इस्लाम का राजनीतिक सिद्धांत कुरान की शिक्षाओ, मुहम्मद साहब की परम्पराओं और नजीरो व यूनानी विचारो पर आधारित था। ये तीनो मिलकर मुस्लिम धर्मशास्त्र बने जो बाद मे मुस्लिम न्यायविदो के द्वारा विस्तृत व विकसित किया गया। इसी दृष्टिकोंण को अपना कर राजनीतिक विचारो और सगठनो ने अपना कानूनी आधार स्थापित किया। कुरान ने सामाजिक जीवन और राजनीतिक जीवन के विस्तृत सिद्धात घोषित किए। कुरान ने सभी मुसलमानो की पारस्परिक घनिष्ठता एव एकता पर बल दिया और जाति से अलग होने की निदा की। इसमे सभी मुसलमानो को एक सवैधानिक सत्ता के आदेशो का पालन करने की अनिवार्यता बताई गई।[1] शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए कुरान ने यह निर्धारित किया कि मनुष्य का प्रथम कर्तव्य ईश्वर के प्रति है। अत किसी भी मुस्लिम धर्मानुयायी को ऐसी सत्ता के आदेशो को नही मानना चाहिए, जो धर्मोपदेश के विरुद्ध हो।[2] मुहम्मद साहब ने अपने अनुयायियो के शिक्षक और नेता के रूप मे

---

1. कुरान **III- 102 XL-II, 38**
2 कुरान **V.2**

धीरे–धीरे अपने को सत्ता का प्रमुख बना दिया। उनके मृत्यु के बाद मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगो ने सत्ता का सचालन उनके उपदेशों और हिदायतों के अनुसार चलाने के लिए खलीफा की नियुक्ति की।

इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है। खलीफा भी उसके आधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक 'शरीयत' के आधीन होते है और उसके कानूनो के अनुसार कार्य करना उनका प्रमुख कर्तव्य होता है। इस दृष्टि से खलीफा और सुल्तान धर्म के प्रधान नही थे बल्कि 'शरीयत' के कानून के आधीन राजनीतिक प्रधान मात्र थे जिनका कर्तव्य धर्म के कानूनों के अनुसार शासन करना था। दिल्ली सुल्तान भी इसी प्रकार के शासक थे। वे सभी राजनीतिक प्रधान तो थे किन्तु उनका कर्तव्य इस्लाम धर्म और कुरान के कानूनों के अनुसार शासन करना था। अतएव दिल्ली सुल्तानो पर नीति और धर्म का प्रभाव रहा। तत्कालीन कश्मीर के शासक जैनुल–आब–दीन को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते हुए, सल्तनत काललीन शासक के समान उसे भी सत्ता का प्रधान स्वीकारते हुए जोनराज ने राजतरंगिणी नामक महाकाव्य में उल्लेख किया है।[1] शासको का प्रमुख कर्तव्य इस्लाम धर्म के कानूनों का पालन करना था। इसी कारण उनके शासन मे (कतिपय शासको को छोडकर) उलेमा वर्ग का प्रभाव रहा तथा इस्लाम धर्म एक राज्य की तरह माना जाता रहा यद्यपि व्यवहार के रूप में उसका प्रयोग संभव नहीं रहा।

दिल्ली सुल्तानो मे से अधिकांश शासको ने अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा और अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति उससे ली। इस

---

1 नष्टान् योजयितु भूय. कश्मीरानिच्छतो हरे ।

अवतारस्त्वमेतत्ते सिध्यत्येव चिकीर्षितम्।।

जोनराजकृत राजतरगिणी (935)

दृष्टि से वे अपने को अब्बासी खलीफाओ के आधीन मानते थे। केवल 'अलाउद्दीन खिलजी' ने यह कार्य नही किया, जबकि 'कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी' ने तो स्वय खलीफा की उपाधि ग्रहण की। मुहम्मद तुगलक ने आरम्भ मे खलीफा को कोई मान्यता नही दी परन्तु बाद के समय मे उलेमा वर्ग को सतुष्ट करने के लिए उसने खलीफा को प्रधान मान लिया। परन्तु दिल्ली– सुल्तानो ने खलीफा को केवल नाममात्र का प्रधान माना था। अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारने अथवा अपने सिक्को पर खलीफाओं के नाम अंकित कराने से उनकी व्यावहारिक स्थिति में कोई अन्तर नही आया था और वे वास्तविकता में स्वतंत्र शासको की भाति व्यवहार करने लगे। खलीफा को नाममात्र का प्रधान मानने मे उनका गतव्य अपनी सुन्नी प्रजा और जनता मे प्रभावशाली उलेमा– वर्ग का विश्वास एव वफादारी प्राप्त करना था।

केन्द्रीयशासन

1 सुल्तान

केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान था। दिल्ली सल्तनत के युग मे उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नही था, जैसा कि हम मुगल काल मे पाते है जिसमें उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रो का ही सिंहासन पर अधिकार हो सकता था। परन्तु फिर भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी, जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री को सिहासन प्राप्ति का अधिकार था। सुल्तान को अपने बच्चो में से किसी को भी अपना

उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, वयस्क हो अथवा अल्पायु। इस आधार पर पैतृक सुल्तान के द्वारा नामजद किये जाने के अधिकार को मान्यता थी। इसी आधार पर रजिया सुल्तान, शिहाबुद्दीन खिलजी और तुगलक शाह को सिहासन प्राप्त हुआ। इसमे स्त्रियो और अल्पायु शहजादो के सिहासन पर बैठने और शासन करने के प्रयोग असफल हुए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाए जब उत्तराधिकारी योग्य हो। अयोग्य उत्तराधिकारी होने की स्थिति से सरदारो ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया। सुल्तान इल्तुतमिश, रजिया के सभी भाई, कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी और फीरोज तुगलक सरदारो की सम्मति से चुने गए सुल्तान थे। इसके अतिरिक्त तलवार की शक्ति भी सिहासन के अधिकार को निश्चित करती थी अलाउद्दीन खिलजी, खिज्रखाँ और बहलोल लोदी ऐसे ही शासक थे।

दिल्ली सुल्तानो ने अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरकुश शासन व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान कानून बनाने, उन्हे लागू करने और न्याय करने मे प्रधान था। राज्य की सेना का सर्वोच्च सेनापति भी वही था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी सभी पदाधिकारियो की नियुक्ति करने, उन्हे हटाने, उपाधियो का वितरण करने आदि अधिकार उसी के थे। अधिकारो का वास्तविक प्रयोग उसकी सैनिक शक्ति पर निर्भर करता था। सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति मं सरदारो का शासन मे प्रभाव बढ जाता था। उलेमा वर्ग का प्रभाव भी शासन मे था। केवल अलाउद्दीन खिलजी, मुबारक शाह खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक ही उसके

प्रभाव से मुक्त रह सके थे। शासन–व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमणो से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का महत्त्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।

2 मन्त्री व अन्य अधिकारी

शासन मे सुल्तान की सहायता के लिए विभिन्न मत्री और अन्य अधिकारी होते थे जो शासन कार्य मे सुल्तान की मदद करते थे–

नाइब (नाइब–ए–मामलिकात)–

इस पद को रजिया के पश्चात् बहराम शाह के समय मे प्रारम्भ किया गया था। बहराम शाह के सरदारो ने शासन शक्ति को अपने हाथो मे रखने के लिए अपने मे से हर एक को नाइब का पद बाटा। इस कारण दुर्बल सुल्तानो के समय में ही इस पद का महत्त्व रहा। नाइब का पद सुल्तान के बाद माना जाता था और इसे राजा के वजीर से भी श्रेष्ठ समझा जाता था। शक्तिशाली शासको ने या तो इस पद को रखा ही नहीं या फिर अलाउद्दीन जैसे शासकों ने अपने किसी सरदार को सम्मान देने के लिए यह पद उसे प्रदान किया।

वजीर –

राज्य का प्रधान मत्री वर्जीर कहलाता था। वजीर मुख्यतः राजस्व विभाग (दीवान–ए–वजारत) का प्रधान होता था। इस दृष्टि से वह लगान कर व्यवस्था, दान, सैनिक व्यय आदि सभी की देखभाल करता था। यदि राज्य में 'नाइब' का पद नही होता था तो वजीर ही सुल्तान के बाद राज्य का सबसे बडा अधिकारी होता था। ऐसी स्थिति मे सम्पूर्ण शासन पर दृष्टि रखना,

सुल्तान की बीमारी अथवा राजधानी से अनुपस्थित होने पर नियुक्ति करना आदि अधिकार उसे प्राप्त थे। वजीर की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारी के अतिरिक्त नाइब–वजीर, मुसिफ–ए–मुमालिक, मुस्तौफी–ए–मुमालिक आदि बडे अधिकारी भी होते थे। मुसिफ–ए–मुमालिक का कार्य प्रान्तो व अन्य विभागो के प्राप्त हिसाब का लेखा–जोखा रखना था। और मुस्तौफी ए– मुमालिक इस हिसाब की जाच करता था।

दीवान –ए– वजारत –

यह एक बडा विभाग था और उसका एक बडा सचिवालच था जिसके अन्तर्गत हजारों छोटे –बडे अधिकारी और साधारण कर्मचारी कार्य करते थे।[1]

अरीज –ए–मुमालिक –

यह सेना विभाग (दीवान–ए–अर्ज) का प्रधान था। वह सैनिको की भर्ती, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोड़ों को दागने व सैनिको की हुलिया लिखे जाने की व्यवस्था करता था। वह राज्य का स्थायी सेनापति नहीं था और सुल्तान समय–समय पर विभिन्न युद्धो के लिए अलग–अलग सेनापति नियुक्ति करता था।

दबीर –ए–खास (अमीर –मुशी) –

यह शाही पत्र व्यवहार विभाग (दीवान–ए–इंशा) का प्रधान था। सुल्तान के आदेशो को राज्य के विभिन्न भागो में भेजना और सुल्तान की सभी प्रकार की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना, उसे भेजना आदि उसी का कार्य था, उसकी सहायता के लिए अनेक दबीर (लेखक) होते थे।

---

1 एव बुद्धिप्रकर्षेण व्यवहारविमर्शत ।
अमात्यपर्षदो– हर्षश्चित्तोत्कर्षमजीजनत।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (958)

दीवाने–रसालत –

यह सुल्तानो की विदेश वार्ता और कूटनीतिक सम्बन्धों की देखभाल करता था। विदेशी पत्रव्यवहार और राजदूतों का आदान –प्रदान तथा उनकी देखभाल उसका उत्तरदायित्व था।

सद्र –उस–सुदूर –

यह धर्म विभाग का प्रधान था। इस्लाम धर्म के कानूनो का प्रजा मे प्रसार करना, उनका पालन कराना और मुसलमानो के विशेष हितों की सुरक्षा करना उसका उत्तरदायित्व था। 'जकात' नामक कर से वसूल किये गये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरे उसकी सलाह पर दी जाती थी। मस्जिदों, मकतबों और मदरसों को आर्थिक सहायता भी वही देता था। शाही–खैरात (दान) की व्यवस्था भी वही करता था।

काजी–उल–कजात –

यह न्याय विभाग का प्रधान था। यद्यपि उसके न्यायालय से बडा न्यायालय सुल्तान का था। [1] किन्तु राज्य का प्रमुख काजी होने के नाते मुकदमें उसकी अदालत मे आरम्भ किये जाते थे और निम्न काजियो के निर्णय पर भी वह विचार कर सकता था। [2] अधिकांशतः काजी–उल–कजात और 'सद्र उस सुदूर' के पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे।

वरीद–ए–मुमालिक–

---

1 जोनराजकृत राजतरगिणी (143)

2 प्राडविवाक क्षमाबुद्धिर्युक्त दण्डत्वरजक ।
राज्ञोऽक्हत्प्रजाभारं गणनापति गौरकं ।। जोनराजकृतराजतरंगिणी (959)

जिन सुल्तानो ने गुप्तचर विभाग का सगठन किया था उसका यह प्रधान होता था। विभिन्न गुप्तचर, सन्देशवाहक और डाक चौकियॉ उसके अधीन होती थी।

समय–समय पर सुल्तान अपनी इच्छा से अन्य विभागो और उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करते थे, जैसे मोहम्मद तुगलक ने दीवाने–अमीर–कोही (कृषि विभाग के प्रधान) की नियुक्ति की थी। इसके अतिरिक्त, सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमे से 'वकील–ए–दरमहल' शाही कर्मचारी की देखभाल करता था 'बारबक' दरबार की शान–शौकत और रास्तों की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–हाजिब सुल्तान से मिलने वालो की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–शिकार' शाही शिकार का प्रबन्ध करता था, 'अमीर ए–मजलिस' शाही उत्सवो और दावतों का प्रबन्ध करता था। 'सर–ए–जहादार' सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान होता था।

ये पद मन्त्रियो के पद के समान तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा अराम से सम्बन्धित था। इस कारण इन पदो पर अत्यधिक विश्वासपत्र व्यक्तियो की नियुक्ति की जाती थी और कभी–कभी इनमे से कोई पदाधिकारी सुल्तान के व्यक्तिगत सम्पर्क में होने के कारण मन्त्रियो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता था।

इक्ताओं (प्रान्तों) का शासन

शासन की सुविधा और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार

राज्य को छोटी इकाइयो मे बाटा गया था। उस समय प्रान्तो को साधारणत 'इक्ता' के नाम से पुकारते थे। उस युग मे 'इक्ताओ' की न तो संख्या निश्चित की जा सकी थी और न तो सख्याप्रबन्ध समान हो सका था। बडे 'इक्ताओ' के प्रधान को मुक्ती, नाजिम, नाइब सुल्तान अथवा वली के नाम से प्रकारा जाता था। अलाउद्दीन के समय मे ये इक्ता दो प्रकार के हो गये। प्रथम वे 'इक्ता' थे जो पहले से ही दिल्ली–सल्तनत के अधीन चले आ रहे थे और द्वितीय वे इक्ता थे जिनको जीतकर उसी समय मे दिल्ली सल्तनत के अधीन किया गया था। दूसरे प्रकार के इक्ताओ मे 'मुक्ती' अथवा 'वली' को कुछ अधिक सैनिक अधिकार थे जिससे वह अपने 'इक्ताओ' को दिल्ली सल्तनत के पूर्ण प्रभाव मे ले सके। इसके अतिरिक्त हिन्दुओ (दक्षिण–भारत) के वे राज्य थे जिन्होने सुल्तान की अधीनता स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना आरम्भ किया था यद्यपि अपने आन्तरिक शासन में वे स्वतंत्र थे। अपने–अपने इक्ताओ मे मुक्ती अथवा वली को वे समस्त अधिकार प्राप्त थे जो सुल्तान को केन्द्र पर प्राप्त थे और उसी प्रकार शासन का उत्तरदायित्व भी उन पर था। वह प्रत्येक वर्ष अपनी आय और व्यय की सूचना सुल्तान को देते थे और बचे हुए धन को केन्द्रीय खजाने मे जमा कराते थे। सुल्तान की आज्ञा के बिना वो कोई कार्य नही कर सकते थे। इनके सभी कार्य केन्द्र के अधिकार के अन्तर्गत होते थे।

तेरहवी सदी तक इक्ता से छोटी कोई इकाई न थी, परन्तु उसके पश्चात् 'इक्ताओ' को 'शिको' मे विभाजित किया गया, जहाँ का प्रमुख अधिकारी 'शिकदार' होता था। जो एक सैनिक अधिकारी होता था। 'शिकों'

को 'परगनो' मे विभाजित किया गया, जहा एक 'आमिल' एक 'मुशरिफ' (उसे अमीन या मुसिफ कहते थे) एक खजाची और दो क्लर्क मुख्य अधिकारी होते थे। 'आमिल' परगने का मुख्य अधिकारी था। 'मुशरिफ' लगान निश्चित करने वाला अधिकारी था। 'परगना' शासन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई समझा जाता था क्योकि वहा राज्य का सीधा सम्पर्क किसानो से था। शासन की सबसे छोटी इकाई गाव थे; जो स्वशासन और पैतृक अधिकारियो की व्यवस्था के अन्तर्गत थे गावो के चौकीदार, पटवारी, चौधरी, खूत, 'मुकदम' आदि पैतृक अधिकारी थे जो शासन को लगान वसूल करने में सहायता देते थे जिन्हे अलाउद्दीन के समय के अतिरिक्त सम्पूर्ण सल्तनत काल में कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थी।

इक्ता व्यवस्था–

दिल्ली सुल्तानो की इक्ता व्यवस्था उनके शासन की मुख्य विशेषता रही है। भारत मे प्रचलित सामन्ती प्रथा को नष्ट करने और साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशो को केन्द्र से जोडने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूपमें 'इक्ता प्रणाली' का प्रयोग किया गया। उसका प्रारम्भ सुल्तान इल्तुमिश के शासन काल मे हुआ। सुल्तान ने अपने दूरस्थ प्रदेशो में जिन बड़े सैनिक अधिकारियो की नियुक्ति की थी, उनको वेतन देनेकी प्रथा मे यह व्यवस्था आरम्भ हुई। इन सैनिक अधिकारियो को एक निश्चित–भूमि इक्ता प्रदान किया गया, जिससे होने वाली वार्षिकी से ये अपना वेतन प्राप्त करते थे। छोटे भूमि क्षेत्र के अधिकारियो को इक्तादार कहा जाता था और प्रान्तीय सूबा स्तर के अधिकारी, 'वली', मुक्ता, मलिक या अमीर पुकारा जाता था। इन्हे प्रशासकीय

व अन्य अधिकार भी प्रदान किये गये जबकि छोटे इक्तादारो को ये अधिकार नही प्राप्त थे।

अलाउद्दीन खिलजी के समय मे दीवान–ए–वजारत ने इक्ताओ की आय पर नियंत्रण रखा। गियासुद्दीन तुगलक ने इस सम्बन्ध पर एक सशोधन किया प्रत्येक इक्तादार को सैनिक रखने को बाध्य किया जाय तथा वेतन स्वय इक्ता की आय से वहन किया जाय। इक्ता का पद पैतृक नही था ये सुल्तान के ऐसे सैनिक अधिकारी थे, जो अपने–अपने इक्ता मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करते थे। इसके लिए दो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। जिनको 'अमीर' और 'वली–उल–खराज' कहा जाता था। इनका स्थानारन्तण भी होता था। यदि सुल्तान शक्तिशाली होता था तो 'इक्ता' उसकी शक्ति का आधार बन जाते थे और दुर्बल होने पर यही सम्राज्य के विघटन और राजसत्ता के परिवर्तन का कारण बन जाते थे।

इस प्रकार दिल्ली के सुल्तानो की यह इक्तादारी व्यवस्था, राजपूत शासकों की सामन्ती प्रथा से भिन्न थी। मूलतया अपने बडे सैनिक अधिकारियों को वेतन देने के लिए भू–क्षेत्र प्रदान कर देने से इसका प्रारम्भ हुआ। बाद मे यह दूरस्थ प्रदेशो को प्रशासकीय रूप मे केन्द्र से बाधे रखने मे सहायक सिद्ध हूई। केन्द्र की आय मे वृद्वि करने में, जिससे उसकी सैनिक शक्ति मे वृद्वि सम्भव हुई, और दिल्ली सल्तनत का विस्तार हो सका।

राजस्व–कर–व्यवस्था

दिल्ली के सुल्तानो के समय मे कुछ विशेष करो के अतिरिक्त

निम्नलिखित पाच कर मुख्य थे।–

1. उश्र–

यह मुसलमानो से लिया जाने वाला भूमि कर था। जिस भूमि पर प्राकृतिक साधनो से सिचाई होती थी वहा से पैदावार का 10 % भाग और जिस भूमि पर स्वय के साधनो से सिंचाई होती थी वहा से पैदावार का 5 % भाग भूमि कर के रूप मे लिया जाता था।

2. खराज–

यह गैर मुस्लिमो पर भूमि कर था जो पैदावार के एक तिहाई से लेकर आधे तक विभिन्न सुल्तानो ने लिया।

3 खम्स–

यह लूटे हुए धन, खानों अथवा भूमि में गडे कुछ खजानों से प्राप्त सम्पत्ति का 1/5 भाग था, जिस पर सुल्तान का अधिकार था। शेष भाग पर उसके सैनिक, अधिकारियो अथवा खजाने को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अधिकार होता था। परन्तु फीरोज तुगलक को छोडकर अन्य सभी शासको ने 4/5 हिस्सा स्वयं अपने लिए रखा।

4. जकात–

यह मुसलमानो पर धार्मिक कर था, जो केवल धनवान मुसलमानो से ही लिया जाता था और उनकी आय का ढाई प्रतिशत होता था। इस कार्य को केवल मुसलमानो के हितार्थ ही व्यय किया जाता था।

5 जजिया–

यह गैर मुसलमानों पर धार्मिक कर था। इस्लाम के कानून के अनुसार गैर मुसलमान जिन्हें 'जिम्मी' के नाम से पुकारा जाता था, को एक

मुसलमान शासक के राज्य मे रहने का अधिकार न था। इस प्रकार कर देने के बाद ही वे राज्य मे रहकर शासक का संरक्षण और अपने जीवन की सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे। इनके लिए गैर मुसलमान को तीन श्रेणियो में विभक्त किया गया था। प्रत्येक वर्ग को क्रमश 12, 24, और 48 दिरहम कर के रूप मे देने पडते थे। स्त्रिया, बच्चे, भिखारी, लॅगडे, अन्धे, साधू, पुजारी वृद्व जन और वे व्यक्ति जिनके आय का कोई साधन नही था, इस कर से मुक्त थे। फीरोज तुगलक ने दिल्ली के ब्राह्मणों पर यह कर लगाया। जोनराज ने भी सूहभट्ट द्वारा (जो जैनुलआब दीन के राज्य में मंत्री था) ब्राह्मणो पर अनेक कर [1] व बन्दिशें [2] लगाये जाने का वर्णन किया है। व्यावहारिक आधार पर दिल्ली सुल्तानो ने इसे बहुत कठोरता से वसूल नही किया, क्योंकि इससे बहुसख्यक हिन्दू प्रजा के विद्रोही होने का भय था।

उपर्युक्त करो के अतिरिक्त मुसलमानों से वस्तु के मूल्य का 25 % हिन्दुओं से 5% व्यापारिक कर लिया जाता था। घोडो पर 5% कर था। अलाउद्दीन खिलजी ने मकान और चारागाह पर भी कर लगाये थे और फीरोज तुगलक ने राज्य के सिंचाई साधनो से लाभ प्राप्त करने वाली भूमि से पैदावार का 10 % सिचाई कर के रूप मे लिया था। इसके अतिरिक्त, मुद्रा की ढलाई, लावारिस सम्पत्ति तथा अमीरो एव प्रान्तीय सूबेदारो द्वारा दी गयी वार्षिक भेटे भी सुल्तान की आय के साधन थे । सुल्तान का मुख्य व्यय सेना,

---

1 यवनाब्धिमहावेला यामकार्षीत् कथचन।
उल्लधिताद्विजातीना तेन दण्डस्थितिस्तत ।।

2 मोक्षाक्षर विना मार्गो दातव्यो नैव कस्यचित्।
इत्यादिशदशेषान् स मार्ग रक्षाधिकारिण. ।।

जोनराजकृत राजतरगिणी (653,656)

अपने और महल के व्यक्तिगत खर्चों तथा विभिन्न पदाधिकारियो के वेतन पर होता था।

लगान व्यवस्था– राज्य की भूमि चार भागो मे विभक्त थी। प्रथम,–वह भूमि जो व्यक्तियो को दान के रूप मे दी गयी थी। द्वितीय,– वह भूमि जो मुक्तियो अथवा प्रान्तीय वलियो के अधिकार मे थी। इससे मुक्ती अथवा वली लगान वसूल करते थे और अपने शासन के व्यय को पूरा करने के उपरान्त बाकी धन सरकारी खजाने मे जमा कराते थे।

तृतीय–वह भूमि जो अधीनस्थ हिन्दू राजाओ के आधिपत्य मे थी, जो प्रतिवर्ष राज्य को निश्चित धन राशि देते थे। चतुर्थ–खालसा भूमि जो केन्द्रीय सरकार या सुल्तान की भूमि मानी जाती थी और जिससे सुल्तान के कर्मचारी लगान वसूल करते थे। इस चौथी प्रकार की भूमि की लगान व्यवस्था का उत्तरदायित्व सुल्तान और उनके कर्मचारियो पर था। इसके लिए राज्य ने प्रत्येक शिक में 'आमिल' नामक अधिकारी की नियुक्ति की। यह पटवारी, चौधरी, मुकद्दमो, कानूनगो, खत आदि पैतृक अधिकारियों की मदद से लगान वसूल करता था।

इस प्रकार राज्य के कर्मचारियो का किसानो से प्रत्यक्ष सम्पर्क न था, बल्कि वे वशानुगत और परम्परा से चले आ रहे गाव अथवा जिले के अधिकारियो से सम्पर्क रखते थे और वही से किसानो से लगान वसूल करके उन्हे देते थे। इन कार्यो की देखभाल के लिए 'ख्वाजा' नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। केन्द्रीय गुप्तचर भी सुल्तान को उनके सम्बन्ध में सूचनाये देते थे।

साधारणतय:, सम्पूर्ण सल्तनत युग मे किसानो को पैदावार का एक तिहाई से लेकर आधा भाग तक राज्य को देना पडता था। आरम्भ मे एक तिहाई ही रहा किन्तु अलाउद्दीन के समय मे इसे आधा कर दिया गया। परन्तु इसमे सफलता नही मिल सकी और बाद के समय मे लगान पैदावार का एक तिहाई ही रहा। मोहम्मद तुगलक ने दोआब मे कर वृद्धि करने का प्रत्यत्न किया परन्तु वह असफल रहा। साधारणत लगान सिक्को के रूप में वसूल किया जाता था, परन्तु अलाउद्दीन खलजी ने अपनी बाजार व्यवस्था के कारण दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रो और दोआब में लगान गल्ले के रूप में वसूल किया। अलाउद्दीन और मोहम्मद तुगलक के अतिरिक्त किसी भी सुल्तान ने भूमि की पैमाइश करके लगान लेने की पद्धति नही रखी बल्कि पैदावार का अनुमान करके ही लगान निश्चित कर दिया जाता था। अलाउद्दीन ने अपने समय मे दान की हुई भूमि को जब्त कर लिया था और उसका पुनर्वितरण किया। गियासुद्दीन तुगलक ने किसानो की भलाई के लिए यह निश्चित किया था कि किसी भी इक्ता के लगान में एक वर्ष के अन्तर्गत 1/11 या 1/10 भाग से अधिक वृद्धि न की जाय। मोहम्मद तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य के आय–व्यय का लेखा–जोखा कराया, इसका कारण पूरे राज्य मे समान लगान व्यवस्था तय करना था। फीरोज तुगलक ने सम्पूर्ण जमीन की लगान निर्धारित करके उसे सम्पूर्ण काल के लिए निश्चित कर दिया, उसने एक पृथक कृषि विभाग खोला। फीरोज–शाह तुगलक ने किसानो को 'तकावी' कर्ज से मुक्त कर दिया, राजस्व विभाग के अधिकारियो के वेतन में वृद्धि की, प्राय: छब्बीस करो से प्रजा को मुक्त कर दिया, फलो के बाग लगायें,

सिचाई की व्यवस्था करायी, किसानो को अतिरिक्त कर भार से मुक्ति दिलवायी। फीरोज शाह तुगलक ने निस्सन्देह किसानो की भलाई करने मे सफलता प्राप्त की। सिकन्दर लोदी द्वारा भूमि की पैमाइश करके लगान को निश्चित करने के प्रयास विफल हो गये।

दिल्ली सल्तनत के युग की लगान व्यवस्था मे सिद्धान्तत कुछ दोष रहे। भूमि की पैमाइश न करके अनुमान के आधार पर पैदावार पर लगान निश्चित करना, किसानो के लिए लाभदायक नही हो सकता था। इससे लगान अधिकारियों को मनमानी करने का अवसर मिला था। इसके अतिरिक्त साधारणत भूमि ठेके पर दे दी जाती थी। इसके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करनेवाले भूमिठेकेदार वर्ग का जन्म हुआ था जो किसानो से अधिक से अधिक लगान प्राप्त करते थे लगान के अतिरिक्त किसानो को अन्य कर भी देने पडते थे। इस कारण किसानो पर कर का भार अधिक था।

सैनिक संगठन

सुल्तानो की शक्ति उनके सैन्य बल पर निर्भर करती थी। यह सम्पूर्ण काल ऐसा था जबकि सुल्तान भारत में इस्लाम की सत्ता को स्थापित और विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी कारण हिन्दू राजाओं से सघर्ष और आन्तरिक विद्रोहो का दमन सम्पूर्ण सल्तनत युग में चलता रहा। ऐसी परिस्थितियों मे प्रत्येक सुल्तान को एक बडी सेना रखना आवश्यक था। मुसलमानो ने भारत मे युद्ध शैली और सैनिक संगठन मे परिवर्तन किये।

उस समय सेना मे चार प्रकार के सैनिक होते थे– प्रथम वे सैनिक जो

सुल्तान के सैनिको के रूप मे भर्ती किये जाते थे। इनमे शाही अगरक्षक, शाही और कुछ अन्य सैनिक सम्मिलित होते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना रखी थी ; जिसमें पैदलों के अतिरिक्त चार लाख पचहत्तर हजार घुडसवार भी थे। गियासुद्दीन तुगलक और मोहम्मद तुगलक के समय मे भी केन्द्र पर एक बडी सेना स्थायी रूप से रखी गयी, परन्तु उसके पहले और बाद के सुल्तान कभी भी केन्द्र पर बहुत बडी सेना नहीं रख सके। यह सेना 'दीवान–ए–अरीज' की देखभाल मे रहती थी, जो उसकी भर्ती, संगठन वेतन–वितरण आदि के लिए उत्तरदायी होता था। इस सेना के प्रशिक्षण के लिए कोई निश्चित व्यवस्था न थी। बलबन जैसे शासक इस सेना को शिकार के बहाने ले जाकर प्रशिक्षण प्रदान करते थे अन्यथा प्रत्येक सैनिक की कुशलता स्वयं अपने परिश्रम व कौशल पर निर्भर करती थी।

द्वितीय, वे सैनिक होते थे, जो दरबार के सरदारो और प्रान्तीय 'इक्तेदारों' (सूबेदारों) आदि के द्वारा भर्ती किए जाते थे। इन सैनिकों की भर्ती, 'प्रान्तीय–अरीज' करते थे, इस सेना के संगठन का उत्तरदायी इक्तादार सूबेदार ही होता था, परन्तु मुख्य उत्तरदायित्व इक्तादार (सूबेदार) का ही होता था। वर्ष में एक बार उनकी सेनाए सुल्तान के निरीक्षण हेतु प्रस्तुत की जाती थी।

तृतीय, वे सैनिक होते थे जो केवल अस्थायी रूप से युद्ध के अवसर पर ही भर्ती किए जाते थे, और उसी समय में उनको वेतन व रसद प्राप्त होती थी। चतुर्थ, वे मुसलमान जो स्वयं सम्मिलित होते थे। वे उसे

'जिहाद' (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) मानते थे, उन्हे केवल लूटी हुई सम्पत्ति मे से हिस्सा मिलता था।

सेना के मुख्य तीन विभाग थे–

1 घुडसवार सेना –

इसे सेना का मुख्य भाग समझा जाता था। इस सेना के विषय मे राजतरगिणी मे भी उल्लेख है।[1] घुडसवार दो प्रकार के होते थे– सवार जिसके पास एक घोडा होता था, और दो अस्पा, जिनके पास दो घोडे होते थे। घोडो को अरब, तुर्किस्थान और अन्य दूरस्थ प्रदेशो से मगाया जाता था। अलाउद्दीन खिलजी ने घोडों को दागने तथा सैनिकों की हुलिया का विवरण लिखे जाने की प्रथा को प्रारम्भ किया, जिससे घोडों और सैनिकों की अदल–बदल न हो सके। गियासुद्दीन तुगलक ने भी इन प्रथाओ को दोहराया। फीरोज–शाह–तुगलक जैसे शासको ने अपनी उदारता के कारण इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार को जन्म दिया। उसके समय में सेना की भर्ती वशानुगत कर दी गयी। जिससे योग्यता का अभाव हो गया और सेना दुर्बल हो गयी। प्रत्येक घुडसवार के पास दो तलवारे, एक भाला और धनुष–बाण होते थे। रक्षा के लिए वे कवच, ढाल और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। घोडो की सुरक्षा के लिए उन्हे भी लोहे के बख्तर पहनाए जाते थे। सेना की सफलता पर्याप्त मात्रा मे घुडसवार सेना की शक्ति और गतिशीलता पर निर्भर करती थी।

2. राज सेना–

भारत आगमन के बाद दिल्ली सुल्तान ने युद्व मे हाथियों का

---

1 षष्टिग्रामसहस्रेषु स्वाम्यंदातुमिवात्र स।
तावत्सारव्यसहस्राणि स्वसैन्ये सादिनोऽवहत्।। जोनराजकृत राजतंरगिणी (143)

प्रयोग करना आवश्यक मान लिया था। हाथियो का रखना सुल्तानो का विशेषाधिकार बन गया था। लोदी सुल्तानो के समय के अतिरिक्त अन्य किसी सुल्तान ने अमीरो और सूबेदरो को हाथियो की सेना रखने की आज्ञा नही दी यद्यपि कभी–कभी किसी बडे सरदार को सम्मान स्वरूप हाथी रखने की आज्ञा दे दी जाती थी। हाथियो की देखभाल के लिए एक पृथक् विभाग होता था और हाथियों को युद्व करने की शिक्षा दी जाती थी। हाथियों को बख्तर से सुरक्षित किया जाता था। और उनकी सूडो मे तलवार और हंसिये रख दिये जाते थे। हाथी की पीठ पर हौदा रखा जाता था, जिसमे सैनिक बैठते थे।

3 पैदल सेना–

पैदल सैनिक 'पायक' कहलाते थे। वे तलवार, बरछा, कटार, धनुष–बाण ढाल आदि का प्रयोग करते थे। दिल्ली सुल्तानो मे किसी ने भी बारूद गोले के तोप खाने का निर्माण नहीं किया। उनके पास तोपें थी परन्तु वे तोपे पत्थर, जलने वाले पदार्थ, जहरीले साप, लोहे के गोले आदि फेंकने के लिए प्रयोग मे आती थी। उनके फेकने के लिए बारूद का प्रयोग होता था परन्तु वो उस समय तैयार नही किये जाते थे।

दिल्ली सुल्तान की सेना मे सभी धर्म और नस्लों के व्यक्ति थे। तुर्क, ईरानी, मगोल, अफगान, हब्शी , भारतीय मुसलमान, मंगोल, अफगान सेना मे भर्ती किये जाते थे। यद्यपि उच्च पदों पर विदेशी मुसलमानों को ही नियुक्ति दी जाती थी। विभिन्न तत्त्वो से मिलकर बनी हुई ऐसी सेना की शक्ति मूलतया उसके सेनापति अथवा सुल्तान के सेनापतित्व और योग्यता पर निर्भर करती थी। क्योकि सेना में अधिकतर मुसलमान होते थे अतः इस्लाम

धर्म उनको एकता व भावनात्मक जोश प्रदान करता था। सेना का सगठन और पदो का विभाजन मुख्यत दशमलव प्रणाली के आधार पर किया गया था। घुडसवार सेना मे घुडसवारो की एक टुकडी होती थी जिसका प्रधान 'सरे खेल' कहलाता था। दस 'सरे खेलो' के ऊपर एक 'सिपहसालार' दस सिपहसालारो के ऊपर एक 'अमीर' दस अमीरो के ऊपर एक 'मलिक' और दस मलिको के ऊपर एक 'खान' होता था। सम्भवत पैदल सेना का विभक्तीकरण भी इसी प्रकार से किया गया था। प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति व उन्नति सुल्तान की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। बहुत से पद वशानुगत भी बन गये थे।

युद्ध–पद्धति

दिल्ली सुल्तानो की युद्ध पद्धति प्राय समान रही। शत्रुओ की गतिविधि का पता लगाने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे और सेना का एक अग्रगामी भाग आगे भेजा जाता था। युद्ध के अवसर पर सेना को मुख्यतः चार भागों मे बांटा जाता था– केन्द्र, वाम–पक्ष, दक्षिण–पक्ष, और सुरक्षित दल। हाथियो को केन्द्र में सबसे आगे रखा जाता था और उनके बीच मे पैदल सैनिक होते थे। घुडसवारो के बीच मे जगह छोड दी जाती थी।

राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण भागों और किलों में स्थायी रूप से सेना रखी जाती थी। किले को सुरक्षा पक्ति का एक मुख्य भाग समझा जाता था और उनकी सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध किये जाते थे। सुल्तान सेना का मुख्य सेनापति होता था। वह समय–समय पर विभिन्न आक्रमणो के

लिए अलग–अलग सेनापति नियुक्त करता था। सेना व शक्ति व सगठन बहुत कुछ सुल्तान की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता था। इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खिलजी, गियासुद्दीन व मोहम्मद तुगलक जैसे योग्य सुल्तानों के समय मे सेना की भर्ती की शक्ति बहुत दृढ रही जबकि दुर्बल शासको के नेतृत्व मे वही सेना दुर्बल हो गयी।

दिल्ली के सुल्तानो की सेना बहुत श्रेष्ठ नही मानी जा सकती थी। उनमें एकता, सैनिक शिक्षण और अनुशासन की समानता का अभाव था। सरदारो द्वारा संगठित की गयी सेना अपने सरदार के प्रति वफादार होती थी। मुख्यत· उस समय जबकि विदेशो मे भी राजपूत शासको के विरूद्व इस सेना ने सफलता प्राप्त की।

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

राज्य का सबसे बडा न्यायाधीश सुल्तान स्वय होता था और सुल्तान का निर्णय अन्तिम होता था।[1] प्रत्येक सुल्तान सप्ताह में दो दिन अपने न्यायालय में उपस्थित होता था और सभी प्रकार के मुकदमो का निर्णय स्वयं करता था। धार्मिक मामलो मे मुख्य सद्र अथवा मुफ्ती और अन्य मुकदमो मे काजी उसकी सहायता करता था। अधिकाशत काजी और सद्र एक ही व्यक्ति होता था। अत· वही न्याय मे सुल्तान का मुख्य सलाहकार था। सद्र मुख्य काजी, प्रान्तीय काजी अथवा नगरों के काजियों की नियुक्ति सुल्तान करता था। अधिकाश सुल्तान न्यायप्रिय हुए, परन्तु क्योकि वे इस्लाम धर्म के कानूनो के अनुसार न्याय करते थे और काजी से सलाह लेते

---

1 द्रष्टव्य – जोनराजकृत राजतरगिणी (959)

थे जो धार्मिक व्यक्ति होता था तो गैर मुसलमानो को निष्पक्ष न्याय मिलता होगा, इसमे सन्देह है। गाव में ग्राम पचायतें न्याय करती थी।

सुल्तानो का दण्ड विधान कमजोर था। सामान्यत अग विच्छेद, मृत्यु और सम्पत्ति अपहरण दण्ड के स्वरूप थे। सम्पत्ति सम्बन्धी विवादो और असैनिक मुकदमो में भी इस्लाम धर्म के कानूनो को मान्यता दी जाती थी। इन तथ्यो के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि सुल्तानों की न्याय और दण्ड व्यवस्था मध्य युग की परिस्थितियो के अनुसार सामान्य थी और उसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किसी सुल्तान ने नहीं किया था। न्याय का रूप सुल्तान के व्यक्तित्व और उसके धार्मिक विचारो पर निर्भर करता था। मुख्य काजी न्याय विभाग का अध्यक्ष होता था क्यो कि इस विभाग का नियत्रण सुल्तानों के ही हाथों में था। बडे नगरो मे 'अमीरे दाद' नामक पदाधिकारी होता था, जिसकी तुलना हम आधुनिक सिटी मजिस्ट्रेट से कर सकते है इसके दो मुख्य कार्य थे अपराधियों को गिरतार करना और दूसरा काजी की सहायता से मुकदमों का फैसला करना और दूसरे शब्दों में वह काजी के निर्णयो को कार्यान्वित करता था तथा 'मुहतासिब' की मदद से नियमो को लागू करना था। उसकी सहायता के लिए 'नाइबे दायबक' नामक एक पदाधिकारी होता था।

महत्त्वपूर्ण नगरों में कोतवाल के अलावा पुलिस की व्यवस्था नहीं थी। सल्तनत कालीन शासको के समय मे न्याय व्यवस्था ठीक रही अन्यथा अन्य सुल्तानों ने इसे एक सामान्य परन्तु आवश्यक कार्य माना इसका दोष यह था कि किसी भी सुल्तान ने धर्म–निरपेक्ष न्याय, कानून अथवा दण्ड व्यवस्था

को लागू करने का प्रयत्न नही किया, जबकि उनकी बहुसख्यक प्रजा उनसे भिन्न धर्म मानने वाली थी। पुलिस व्यवस्था लागू करने के लिए सुल्तानो ने पृथक् वर्ग नही बनाया। सैनिक अधिकारी ही अपने–अपने क्षेत्रो में पुलिस कार्यो की पूर्ति करते थे।

धार्मिक नीति

सम्पूर्ण सल्तनत–युग मे इस्लाम धर्म, राज्य–धर्म था। इस कारण प्रत्येक सुल्तान का एक मुख्य कर्तव्य 'दारूल–हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दारूल इस्लाम' (इस्लाम का देश) मे परिवर्तित करना रहा। अपने राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के साथ–साथ प्रत्येक सुल्तान ने अपनी इस्लामिक उद्देश्यों की पूर्ति करने का भी प्रयत्न किया। एक सुल्तान किस मात्रा मे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगनशील रहा, यह उनके व्यक्तिगत धार्मिक विचारो की कट्टरता पर निर्भर करता था। परन्तु इसमे सन्देह नही है कि प्रत्येक सुल्तान ने अपनी–अपनी क्षमता और विचारो की सीमा के अनुसार इस कार्य की पूर्ति हेतु प्रयत्न किये। अलाउद्दीन खलजी और मोहम्मद तुगलक जैसे शासको के लिए राजनीतिक उद्देश्य प्रधान था। जबकि फिरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी जैसे शासको ने राज्य की शक्ति को इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने का साधन बनाने मे कोई संकोच नही किया।

सभी सुल्तानो के समय मे मुसलमानो और बहुसंख्यक हिन्दुओ मे अन्तर किया जाता था। हिन्दू किसानो को मुसलमान किसानो की तुलना मे अधिक लगान देना पडता था तथा हिन्दू व्यापारियो को मुसलमान

व्यापारियो की तुलना मे दुगुना व्यापारिक कर देना पडता था। हिन्दू तो क्या हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमानो को भी राज्य मे अच्छे पद नही दिये जाते थे। हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रलोभन दिये जाते थे। न्याय मे मुसलमानो के साथ पक्षपात होता था, हिन्दुओ के साथ निष्पक्ष न्याय की सम्भावना बहुत कम रहती थी। हिन्दुओ को उनके तीर्थ स्थानो पर जाने से रोका जाता था। और उन्हे 'जजिया' देना पडता था। [1] सुल्तानो की दान व्यवस्था और अस्पतालो के निर्माण से हिन्दुओं को कोई लाभ नहीं था जबकि मुसलमान मदरसो, मकतबों और मौलवियो को धन और जागीर दिया जाता था। और हिन्दू पाठशालाओ और विद्यालयों को नष्ट किया जाता था। हिन्दू–मन्दिरो और देवी देवताओ को नष्ट करना उनके लिए प्रसन्नता का हेतु था। [2] मन्दिरों को तोड कर उनके खण्डो को मस्जिदों की सीढियो पर लगाना और हिन्दुओ को अपमानित करने के लिए मन्दिरों के स्थानो पर मस्जिदो का निर्माण करना प्राय. सभी सुल्तानो के समय मे हुआ। हिन्दुओं को मुसलमानो के समान कोई अधिकार नहीं प्राप्त थे, वे न तो नये मकान बनवा सकते थे और न ही अपनी भावनाओं को स्वतंत्र रूप से प्रकट कर सकते थे और मुसलमानो की दया पर निर्भर करते थे। मुसलमान उन्हे अपमानित करने का कोई अवसर नही छोडते थे। निस्सन्देह, हिन्दुओ को शब्द व व्यवहार में दो प्रकार से 'जिम्मी' तथा 'काफिर' समझा जाता था। अधिकांश

---

1 जातिध्वसे मरिष्यामो द्विजेष्विति वदत्स्वथ।
जातिरक्षानिमित्त स तान्दुर्दण्डमजिग्रहत्।।
जोनराज कृत राजतरगिणी (606)

2 कथाशेषीकृते सर्वगीर्वाणप्रतिभागणे।
व्याधिमुक्तमिऽवानन्द सूहभट्टोऽभजत्तत। वही (श्लोक 604)

दिल्ली सुल्तान 'सुन्नी' थे इस कारण शियाओ और अन्य मुसलमान धर्मावलम्बियो के प्रति भी उनका व्यवहार कटुतापूर्ण था।

आधुनिक समय मे विभिन्न इतिहासकारो ने यह सिद्व करने का प्रयत्न किया है कि सुल्तानो की नीति या धार्मिक, सकीर्णता और पक्षपात पर आधारित नही थी, अपने इस मत के समर्थन मे वे विभिन्न मत भी देते है, जैसे मन्दिरो को नष्ट किये जाने का कारण धन था, मूर्तियो को नष्ट करने का उद्देश्य हिन्दुओ को एक ईश्वर मे विश्वास करना सिखाना था। तत्कालीन इतिहासकारों ने केवल प्रतिष्ठा और प्रचार के कारण सुल्तानों के धार्मिक कार्यों को बढा–चढा कर लिखा, आदि सम्भवत ऐसे विद्वानों का इस मत को प्रकट करने का उद्देश्य सद्भावना पूर्ण है। आधुनिक युग की परिस्थितियो में जबकि धार्मिक, सहनशीलता, हिन्दू मुसलमानो के अच्छे सम्बन्ध और धर्म निरपेक्ष राज्य के निर्माण की आवश्यकता है, तब धार्मिक कट्टरता पर चाहे वो आधुनिक युग की हो अथवा मध्ययुग की, बल देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतिहास तथ्यो पर आधारित सत्य है, न कि किसी युग की विशेष प्रवृत्ति के प्रचार का साधन। इसके अतिरिक्त सत्य के द्वारा ही भविष्य का निर्माण करना अधिक र्तक सगत है और उसी के आधार पर किसी परिस्थिति या प्रवृत्ति को ठोस आधार बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे यह कहना अधिक उपयुक्त है कि तथ्य यह प्रमाणित करते है कि प्राय सभी दिल्ली सुल्तानो की धार्मिक नीति सकीर्णता व साम्प्रदायिकता पर आधारित थी। तत्कालीन सभी इतिहासकारो ने इतिहास धर्म की रक्षा की और प्रचार के हेतु सुल्तानो द्वारा कियेगये कार्यो

की प्रशसा की थी, ये सभी मुसलमान इतिहासकार थे। भविष्य से अनभिज्ञ उन्होने जो कुछ भी लिखा उसमे अतिशयोक्ति हो सकती थी परन्तु उनके कथन का आधार सत्य है।

मध्य युग मे धर्म की मान्यता थी और यदि सुल्तानो ने इस मान्यता के अनुकूल कार्य किये तो उन पर न तो सन्देह करने की आवश्यकता है और आश्चर्य करने की। न ही सुल्तानों पर लाछन लगाने की। उन सुल्तानो ने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार कार्य किया जो स्वाभाविक था। उनका लक्ष्य केवल धर्म प्रचार ही नही था, भारत मे अपने द्वारा स्थापित राज्य की रक्षा करना उनका प्रमुख हित और स्वार्थ था। धर्म से राजनीति के अनिवार्य रूप से जुडे होने के पीछे यही हेतु था। इस कारण सम्पूर्ण सल्तनत काल एक ऐसे संघर्ष का युग था जिसमे हिन्दु और मुसलमान, धर्म और राजनीति दोनो ही स्थलो में एक दूसरे को शत्रु मानते थे। उस संघर्ष मे मुसलमान विजेता और आक्रमणकारी बन चुके थे तथा हिन्दू पराजित और रक्षार्थी। इन परिस्थितियो में विजेता का अपने श्रेष्ठता को स्थापित रखने प्रयत्न और बहुसख्यक हिन्दुओं को मुसलमान धर्म में परिवर्तित करके अपनी सख्या को बहुमत मे बदलने का प्रयत्न परिस्थितियों के अनुसार राजनीति के लिए लाभप्रद और धर्म के प्रति परायणता का था। इस प्रकार सभी प्रकार से लाभदायक इस कार्य की पूर्ति करने वाले सुल्तानों के कार्यो की निन्दा नही की जा सकती थी, तथा उनके उद्देश्यो को कोई अन्य रूप प्रदान करना उनके साथ अन्याय करना होगा। इस कारण दिल्ली सुल्तानों की नीति धार्मिक असहिष्णुता की थी और इसमे कोई अनुचित और आश्चर्य की बात न थी। परन्तु एक बात अवश्य कही जा सकती है कि दिल्ली सुल्तानो में से कोई

भी महान न हो सका और इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि उनमे से कोई भी अपने समय से आगे न सोच सका और न उनके अनुकूल कार्य कर सका। अन्यथा अलाउद्दीन जैसे महान शासक और योद्वा को भी आधुनिक इतिहासकार महान मानने मे क्यो सकोच करते ? दिल्ली सुल्तानो मे से कोई भी यह न समझ सका कि समस्त हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाना असम्भव है और न हिन्दू धर्म को शक्ति के आधार पर नष्ट किया जा सकता है। यदि वे समझ सके होते तो धार्मिक कट्टरता के अवसाद से बच जाते और हिन्दू मुसलमानों मे वह पारस्परिक सद्भावना अधिक तीव्र गति से स्थापित होती जो जनता में स्वाभाविक दृष्टि से उत्पन्न हो रही थी। मुगल शासक इस बात को समझ सके और अकबर इसे समझ कर महान कहलाने का अधिकारी बन सका। इसी कारण मुगल–वश भारत मे अधिक उन्नतिशील बन सका। दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक कट्टरता उनकी एक महान भूल थी।

दिल्ली सुल्तानो का शासन पूर्णतया दोष रहित न था तथापि वह समय की आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ रहा। उनका मूल दोष उनकी धार्मिक कट्टरता की नीति और अपने सैनिक संगठन को समय के अनुकूल न बनाना था। एक ने उनको बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के सहयोग से वचित रखा तथा दूसरे ने उनके हाथो से भारत की सत्ता छीन ली।
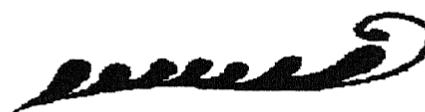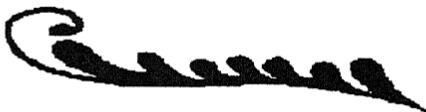
पंचम अध्याय
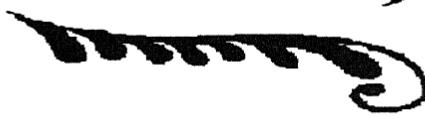
पंचम अध्याय

धार्मिक तथा दार्शनिक आस्थाएँ

मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था भी धर्म से पूर्णरूपेण अनुप्राणित थी, जैसे कि प्रत्येक समाज मे धर्म का स्थान अति महत्वपूर्ण होता है। समाज के विविध वर्गों की किसी परमसत्ता मे आस्था, विचार और उनका सम्यक अनुपालन ही धर्म है। इसीलिए शास्त्रो मे धर्म का निर्वचन किया गया है। "धारयते इत धर्म." अर्थात् जो धारण किया जाए वही धर्म है, ये धर्म हमारे आचार–विचार, रहन–सहन मे स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस युग मे भारतीय समाज मे अधिसंख्य व्यक्ति सनातन धर्म के या हिन्दू धर्म के अनुयायी थी।

इस युग के आरम्भ में हिन्दू धर्म "वैदिक युग" के कर्मकाण्ड, बुद्ध के मानवतावादी सिद्धान्तो तथा अर्थपूर्ण धार्मिक स्वरूप और प्रतीकों के सामंजस्य के रूप मे था। उच्च वर्ग के अधिकांश हिन्दू तथा बुद्धिजीवी यह मानते थे कि ईश्वर एक है जो सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्त्ता, अनंत, सर्वव्यापी, विधि–विधान तथा ब्रह्माण्ड को कायम रखने वाला है। हिन्दुओ के जनसाधारण प्राय· बहुदेववादी थे। हिन्दुओ की सबसे बडी कामना मोक्ष प्राप्ति की थी और प्रत्येक हिन्दू जन्म व मृत्यु के चक्र अर्थात् आवागमन से छुटकारा पाकर परमेश्वर मे एकाकार होना चाहता था। इसे प्राप्त करने के तीन रास्ते थे–कर्म, ज्ञान व भक्ति।

भारतीय संस्कृति की एक मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने

अपने प्राचीन तत्त्वो अथवा विशेषताओ को नष्ट किये बिना नवीन तत्त्वो और विशेषताओ को अपने मे आत्मसात किया है। धार्मिक दृष्टि से यदि एक विचारधारा या एक सम्प्रदाय यहा विकसित हो गया तो चाहे उसका स्वरूप कितना ही बदल गया हो परन्तु उसे नष्ट करने का प्रयत्न नही किया गया। इस कारण इस समय भी भारत मे प्राचीनतम धार्मिक सम्प्रदाय, किसी न किसी रूप मे विद्यमान थे। वैदिकधर्म, बौद्धधर्म, जैनधर्म, हिन्दू–वैष्णव, शैवशक्ति और तांत्रिकसम्प्रदाय आदि सभी किसी न किसी रूप में भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। बौद्धमतावलम्बी, मुलसमानी आक्रमणों के अवसर पर पर्याप्त संख्या में थे, परन्तु धीरे–धीरे उनकी संख्या भारत मे नगण्य हो गयी। जैन धर्म पश्चिम भारत मे और वह भी मुख्यतया राजस्थान और गुजरात तक सीमित रह गया। हिन्दू धर्म मे वैष्णव सम्प्रदाय प्रभावशाली हो गया और शैव सम्प्रदाय के अनुयायियो मे पर्याप्त वृद्धि हुई। मुसलमानो में मुख्यतया सुन्नी व शिया तथा कुछ अन्य छोटे सम्प्रदाय थे परन्तु इस समय की मुख्य विशेषता मुसलमानों मे सूफी सम्प्रदाय की प्रगति और हिन्दू–भक्ति मार्ग पर अथवा भक्ति आंदोलन की प्रगति थी।

भक्ति आंदोलन–

हिन्दू धर्म के अंतर्गत उत्पन्न भक्ति आंदोलन मध्य युग के धार्मिक जीवन की एक महान विशेषता रही है। कई शताब्दियो तक यह धार्मिक आंदोलन बहुत प्रभावपूर्ण रहा और आधुनिक हिन्दू धर्म पर उसकी गभीर छाप है। मध्य युग के इस धार्मिक आदोलन को कहॉ से प्रेरणा प्राप्त हुई, इस प्रश्न पर विभिन्न विचार प्रकट किये गये है। सर्वप्रथम बेवर और ग्रीयर्सन जैसे यूरोपीय विद्वानो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि निर्वाण

प्राप्ति के लिए भक्ति और ईश्वर की एकता का विचार हिन्दुओ ने ईसाईयो से ग्रहण किया, परन्तु आधुनिक इतिहासकारो ने इसका खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त एक विचार यह भी प्रस्तुत किया गया है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म को प्रभावित किया जिसका परिणाम मध्ययुग का भक्ति आदोलन था। इसके पक्ष में यह कहा जाता है कि रामानन्द जिन्होने इस आदोलन के आधार का निर्माण किया, किसी न किसी प्रकार इस्लाम के विचारो से परिचित हो गये थे और यही विचार उनके लिए प्रेरणादायक बने, यही नही कुछ व्यक्तियो ने यहॉ तक कहा कि शकराचार्य का अद्वैत सिद्धात (एकेश्वरवाद मे विश्वास) भी इस्लाम धर्म के प्रभाव के कारण हुआ। परन्तु शकराचार्य व रामानुज पर नव स्थापित इस्लाम धर्म का प्रभाव स्वीकार किया जाना तर्कसगत नही है। शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का समर्थन भारतीय वेदान्त–दर्शन के आधार पर किया और रामानन्द व रामानुज वैष्णव धर्म के अनुयायी थे जो हिन्दू धर्म के भक्ति मार्ग पर बल देते थे और उन्होंने अपने विचारों का समर्थन उन प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रंथों के आधार पर किया जिनमे मूर्तिपूजा का स्थान नही है और जो एकेश्वरवाद मे विश्वास करते हैं उस समय (प्राचीन काल मे) मुसलमानो का अता–पता भी नहीं था। कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि इस्लाम की भ्रातृ–भाव और मानव–समानता की भावना ने हिन्दुओं और भक्ति मार्ग के प्रचारकों को प्रभावित किया परन्तु इस्लाम की यह भावना हिन्दुओ को उस स्थिति मे कैसे प्रभावित कर सकती थी, जबकि वैचारिक व व्यावहारिक रूप से इस्लाम हिन्दू व मुसलमानो में गंभीर अंतर मानता था और कोई भी मनुष्य अपने आदर्श रूप का ही अनुसरण करता है जबकि इसलाम धर्म व उसके कट्टर प्रवर्तकों ने तो हिन्दुओं पर जो

भी प्रभाव डाला वो कटुता व वैमनस्य का था जो आज भी दोनो समुदायो मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दो समुदायो के अतर मे प्रमुख हाथ धर्म का होता है। धर्म ही दो समुदायो को एक–दूसरे से पृथक् करता है अत हिन्दू धर्म प्रवर्तको पर इस्लाम का प्रभाव पडता है– बिल्कुल असम्भव सा प्रतीत होता है। हॉ कुछ कारणो से दोनो धर्मो मे साम्य होना इस बात का द्योतक नही कि इस्लाम धर्म ही हिन्दू धार्मिक आदोलन का आधार बना।

वास्तव मे भक्ति आदोलन हिन्दू–धर्म के अतर्गत ही एक आदोलन था। हिन्दू धर्म में निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये है–ज्ञान, कर्म व भक्ति। समय–समय पर धर्म प्रचारकों ने इन्ही मे से किसी न किसी एक मार्ग पर बल दिया। वेदो के अनुसार कर्म से अर्थ बलिदान या यज्ञ था, जिसमे प्रार्थना तथा आस्था निहित होती थी। वैदिक यज्ञ मे पशु, फूल, दूध, चावलादि की आहुति दी जाती थी किन्तु बाद मे स्मृति के अनुसार पशुबलि की व्यवस्था अस्वीकार कर दी गई तथा शेष अनुष्ठान चलते रहे। भगवद् गीता ने कर्म पर बल दिया जिसके अनुसार फल की इच्छा किए बिना अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। [1] प्राय सभी जातियों मे इस विचारधारा के समर्थक है। वे उचित रीति व पद्धति द्वारा पूजा करते थे। दूसरा महत्वपूर्ण स्थान ज्ञान का था। सत्य को समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य थी तभी सांसारिक बधनो से मुक्त कर आत्मा को स्वछद किया जा सकता था। इसे ब्राह्मणो तथा अन्य उच्च वर्ग के लोगो ने अपनाया। शिक्षण, चितन व समाधि के द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति पर उस समय अधिक बल नही था हालाकि धर्मग्रंथों मे विशेषकर उपनिषद्, भगवद्गीता,

---

1 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्। भगवद्गीता 2—47

और महाभारत मे ईश्वरोपासना का उल्लेख किया गया है। किन्तु मध्यकालीन समय मे अधिक प्रचलन नही होने से इसका स्थान गौण था। मुसलमान आध्यात्मवादी भक्ति और ईश्वर प्रेम को अधिक महत्व देते थे। ज्ञान की महत्ता दूसरे स्थान पर थी। और इसकी आवश्यकता ईश्वर प्रेम की स्थिति को समझने के लिए होती थी। सुल्तानी युग मे हिन्दू सतो और सुधारको के द्वारा आरम्भ किया गया धार्मिक सुधार के आंदोलन में ईश्वरोपासना या भक्ति प्रमुख बात थी।

इन प्रारम्भिक सुधारको पर इस्लाम के भाईचारे के सिद्धान्त तथा इसके उपासको से धार्मिक समता के आदर्श एवं एकेश्वरवाद और आत्मसमर्पण के सपर्क से दक्षिण भारत मे जाति विरोधी तथा एकेश्वर वादी आदोलन पुन प्रारम्भ हुआ जो बाद में उत्तरी भारत मे भी फैल गया। फिर यह कहना गलत होगा कि मध्यकाल के जातिविरोधी तथा एकेश्वरवादी आंदोलन का उत्साह हिन्दू धर्म में था जिसे इस्लामी प्रभाव से बल मिला था। निःसंदेह ऋग्वेद तथा उपनिषदों में एकेश्वरवाद का सिद्धान्त निहित था जैसा कि सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार का कथन है, ''प्राचीन काल में हिन्दुओं के सभी महान विचारको, सभी धार्मिक सुधारको और सभी सच्चे उपासको ने अगणित देवी–देवताओं की पूजा–अर्चना के बाद भी, एक केवल एक श्रेष्ठ ईश्वर की सत्ता की घोषणा की है। उन्होंने धार्मिक कर्मकाण्ड को सदैव सरल बनाने का प्रयत्न किया है। इन सबो मे धर्म को सरल बनाकर जन साधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया है। अत. मुसलमानों के आगमन के उपरान्त पुनः एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को बल मिला तथा यज्ञ, बलि आदि कर्मकाण्डों व ज्ञान के ग्रंथो

की पूजा मात्र के स्थान पर भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता को मान्यता दी गई। इस प्रकार मध्य युग मे विभिन्न कर्मकाण्डो, तीर्थाटन, व्रत, उपवास तथा बहुदेववाद का सथान गौण होता चला गया।

मध्य युग मे हिन्दू धर्म प्रचारको ने भक्ति मार्ग पर बल दिया उसी के परिणामस्वरूप भक्ति आदोलन का जन्म हुआ। यह आंदोलन पूर्णत नवीन भी नहीं माना जा सकता। ईसा पूर्व छठी सदी मे बौद्ध और जैन धर्म के साथ भागवद्–आंदोलन का भी प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति मार्ग पर बल देता था। परन्तु उस अवसर पर वह प्रबल नहीं बन सका। उस समय बौद्ध धर्म एक प्रभावशाली आंदोलन के रूप में सामने आया था। गुप्त काल में हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान होने पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत मे प्रबल रहा। तथा उसके पश्चात् हिन्दू धर्म एक लम्बे समय तक बौद्धिक अथवा भावनात्मक नवचेतना से वंचित रहा। 8वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने तर्क और बुद्धि के आधार पर हिन्दू अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की, जिसके कारण सम्पूर्ण राजपूतो की शौर्य व प्रेम प्रसंगों की भावना जागीरदारी प्रथा पर आधारित थी उनकी राजनीतिक व्यवस्था धर्म में बौद्धिक क्रान्ति के अनुकूल न थी। इस कारण शकराचार्य का ज्ञान–मार्ग जन साधारण के लिए न तो आकर्षक रहा और न समझने के लिए सरल।

इन्हीं परिस्थितियों में भारत मुसलमानी आक्रमणों से पदाक्रान्त हो गया और इस्लाम ने हिन्दू जनजीवन, समाज व धर्म को चुनौती दी । ऐसी स्थिति में राजनीतिक सत्ता और आर्थिक व सामाजिक सुविधाओ से वचित हिन्दुओं ने धर्म का सहारा लिया और उन्होने सबसे आकर्षक मार्ग

"भक्तिमार्ग " को चुना। मध्य युग की निरकुश प्रवृत्तियो मे इस्लाम धर्म से आक्रान्त हिन्दुओ ने धर्म की रक्षा के लिए प्राय उसी प्रकार की सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर भक्ति मार्ग को चुन लिया। उसी का परिणाम भक्ति आदोलन हुआ। मुसलमानो के आक्रमणो के कारण सामाजिक एकता के लिए जाति–प्रथा, मुसलमानो पर आक्रमण मंदिरो को नष्ट किए जाने पर मूर्ति–पूजा की आवश्यकता को नगण्य बनाना और धार्मिक एकता के लिए एकेश्वरवाद का समर्थन आवश्यक हो गया। सम्भवत इसी कारण इस आदोलन के प्रवर्तको ने जाति–प्रथा का विरोध किया और मूर्ति–पूजा को भी आवश्यक नहीं बताया, एकेश्वरवाद का समर्थन किया और इस्लाम हिन्दू धर्मों को एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के दो मार्ग बताये।

भक्ति आदोलन और उसके प्रवर्तक सभी सतो ने उन विशेष बातों पर बल दिया जो इस आदोलन का आधार थी। इन सभी संतो ने किसी विशेष सामाजिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय से अपने को नही बांधा और इनमे से कोई भी नवीन धर्म का आरम्भ नही करना चाहता था। इनमें से अधिकांश को किसी भी धार्मिक ग्रंथ में आस्था न थी, वे किसी भी धार्मिक कर्मकाण्ड मे विश्वास नही करते थे। वे बहुदेववाद का विरोध करते थे, और एक है ईश्वर के विभिन्न नामक जैसे राम, कृष्ण, शिव, अल्लाह आदि है ऐसा उनका विश्वास था। वे मूर्ति पूजा व जाति–प्रथा का विरोध करते थे तथा केवल भक्ति के द्वारा ही व्यक्तियो को मोक्ष का मार्ग बतलाते थे। उनका मत था जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने किसी निकट सबधी से प्रेम करता है। उसी प्रकार धीरे–धीरे एक विस्तृत दृष्टि से प्रेरित होकर वह एकमात्र ब्रह्म अथवा

ईश्वर से प्रेम कर सकता है। जिसे राम, कृष्ण, शिव, किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। उनके अनुसार ईश्वर मदिर मे नही बल्कि व्यक्ति के ह्दय मे निवास करता है। ईश्वर से केवल भक्ति द्वारा सम्पर्क स्थापित करना भक्ति–सतो का मूल आधार था परन्तु भक्ति मार्ग पर चलने के लिए व्यक्ति को अपने शरीर और मस्तिष्क को सभी विकारो से मुक्त रखना आवश्यक था। व इसके लिए एक गुरु आवश्यक था। उनका कहना था कि गुरू शिष्य को इस कार्य मे सहायता प्रदान करता है। परनतु मोक्ष–प्राप्ति केवल ईश्वर की कृपा से ही सभव है और ईश्वर की कृपा प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं का कार्य व कर्त्तव्य है। विभिन्न संतों ने न सभी विचारों के भजन दोहा, कविता व सरल उपदेशों द्वारा जन साधारण को समझााया। सबसे प्रमुख प्रेरक स्वय उनका भक्तिपूर्ण जीवन था। इन संतो ने अपने विचारो को सस्कृत मे नहीं वरन् विभिन्न प्रदोशिक भाषाओ मे बताया। मंदिर, सार्वजनिक स्थान और गाव की चौपाले उनके प्रचार–स्थान थे तथा भजन और कीर्तन उनके मुख्य साधन। इन सभी ने मिलकर भक्ति आंदोलन को मध्य युग में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया।

सम्पूर्ण मध्ययुग मे भारत के विभिन्न भागो मे भक्ति मार्ग के विभिन्न प्रवर्तक हुए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है आठवी से दसवीं सदी तक दक्षिण (भारत) धार्मिक सुधारो का केन्द्र बना रहा। वैष्णव और शैव सतो ने भक्ति परम्परा को आरम्भ किया, जिसके लिए शकर, रामानुज, निंबादित्य वासव , वल्लभाचार्य और माधव जैसे विद्वान संतों ने अपने दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये।

रामानुज

रामानुज (1017–1137) ने दक्षिण वैष्णववाद मे सुबद्ध दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जो विशिष्टाद्वैत के रूप मे ज्ञात है। उसके अनुसार मोक्ष का मार्ग कर्म, ज्ञान, व भक्ति मे निहित है। रामानुज के मत मे आत्मा ज्ञान नही ज्ञाता है। आत्मा धर्मभूत ज्ञान से सहचारित रहता है। आत्मा अपने मे अणु है, किन्तु उसका धर्मभूत ज्ञान विभु है। तथाकथित मनोदशाएँ–ज्ञान, सुख–दु:ख आदि सब धर्मभूत ज्ञान के विकार या परिणाम है। रामानुज के दर्शन के प्रचार ने भक्तिवाद को पुष्ट किया। उनके बाद वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय बने। इन सब सम्प्रदायो पर रामानुज का प्रभाव लक्षित होता है। मौलिकता की दृष्टि से भक्तिपरक वेदान्तीय सम्प्रदायो में विशिष्टाद्वैत सबसे मौलिक और दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। विशिष्टाद्वैत को श्री–सम्प्रदाय भी कहते है। स्वयं रामानुज अपने दर्शन को बोधायन वृत्ति पर आधारित बतलाते है, वे उसे द्रमिड.,टक, गुहदेव और नम्मालवार की परम्परा को अग्रसर करने वाला भी मानते है। वास्तव में रामानुज का दर्शन तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन भागवत धर्म की परम्परा दर्शन तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन भागवत धर्म की परम्परा को अग्रसर करने वाला भी मानते है। वास्तव में रामानुज का दर्शन तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन भागवत धर्म की परम्परा को अग्रसर करने वाला भी मानते है प्रचीन भागवत धर्म की परम्परा को अग्रसर करते व और उसे दार्शनिक आधार देते है। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध शिक्षक नाथमुनि ने तमिल के आलवार सतो की वाणी को प्रस्थानत्रयी के समान

महत्त्व दिया और इस प्रकार उभय वेदान्त सज्ञा का प्रचार किया। शकर व रामानुज के बीच मे भास्कर नामक आचार्य हुए। जिन्होने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। भास्कर ने शकर के मायावाद का खासतौर से खण्डन किया।

रामानुज के बाद वैष्णव सम्प्रदायो मे मध्व का द्वैत वेदान्त, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत और चैतन्य सम्प्रदाय का अचिन्त्य भेदाभेद प्रसिद्ध है। रामानुज सगुण ईश्वर में विश्वास करते थे। भक्तिमार्ग को ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलाते थे। उनके अनुसार कर्म—मार्ग व्यक्ति को माया मे बाध लेता है जिससे मोक्ष सभव नहीं है और ज्ञान मार्ग व्यक्ति को केवल माया (सांसारिक सुख और लालसाएँ) से मुक्ति दिला सकता है। इस कारण अपूर्ण है। बिना स्वार्थ के कर्त्तव्यपालन से मन पवित्र होता है, इससे जीव स्वयं चिंतन करने में समर्थ होता है, इस प्रकार जीव को स्वयं तथा ईश्वर पर निर्भर होने का ज्ञान मिलता है, उसमे ईश्वर के प्रति प्रेम जागता है। भक्ति में चिन्तन समाहित है। इस प्रकार भक्ति मे ज्ञान का योग होता है। इस प्रकार रामानज ने ईश्वर भक्ति में ज्ञान का योग होता है। चिंतन मे ईश्वर के प्रति प्रेम व समर्पण की भावना का अनुभव होता है। इस प्रकार भक्ति में ज्ञान का योग होता है। चितन मे ईश्वर के प्रति प्रेम व समप्रण की भावना का अनुभव होता है। इस प्रकार रामानुज ने ईश्वर भक्ति का मत चलाया और कहा कि केवल इसी से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, उनके अनुसार केवल भक्ति मार्ग द्वारा ही व्यक्ति वैकुण्ठ को प्राप्त कर सकता है और ईश्वर मे लीन हो सकता है। यही सही है कि उन्होने प्राचीन समय से चले आ रहे उच्च्व वर्गों के द्वारा वेदपाठ के विशेष अधिकार का विरोध नहीं किया किन्तु उन्होने सबको पूर्ण समर्पण तथा गुरु मे आस्था रखने का उपदेश दिया। जो ईश्वर को

आत्मसमर्पण करता है, उसकी रक्षा ईश्वर करते है, मृत्यु के उपरान्त उसे बैकुण्ठ प्राप्त होता है जहाँ उसे सदैव ईश्वर दर्शन का लाभ होता है।

निम्बार्क

एक अन्य संत निम्बार्क थे। वे भी 12 वी शताब्दी में हुए। वे राधा–कृष्ण के उपासक थे। वे उन्हे शकर का अवतार मानते थे। इन्होंने भी रामानुज के विचारो व सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार ससार ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र है। ब्रह्म सगुण व निर्गुण दोनो हैं। संसार ब्रह्म से भिन्न व पृथक् दोनो है। ससार मे जीव व प्रकृति दोनो मानने के कारण द्वैताद्वैत मत कहा जाता है। जीव जो कि ब्रह्म के नियंत्रण मे है, मुक्तावस्था में भी उससे अभिन्न और पृथक् दोनों रूपो में है। ब्रह्म के वास्तविक रूप के साथ तादात्म्य प्राप्त करने को मोक्ष कहते है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान व आत्मसमर्पण से होती है। इस मत के अनुसार ब्रह्म की उपासना कृष्ण व राधा के रूप में की जाती है। इस मत को सनक सम्प्रदाय भी कहते है (इसे सनक नामक ऋषि ने चलाया था।)

निम्बार्क ने ब्रह्म सूत्रो की टीका 'वेदान्तपारिजात सौरभ' नाम से की है। निम्बार्क के शिष्य श्री निवास ने इस वेदान्त पारिजात सौरभ की टीका की है। निम्बार्क ने द्वैताद्वैत मत पर दशश्लोकी ग्रथ भी लिखा है।

वल्लभाचार्य–वल्लाभाचार्य (1473–1531) शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक हैं। इस मत के अनुसार ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनो प्रकार का है। वह संसार का कर्ता–धर्ता और संहर्ता हैं सत्, चित् और आनन्द उसके गुण है। वह एक और

अनिर्वचनीय है, वह जीवात्मा मे अन्तर्यामी रूप मे विद्यमान है। वह जगत् का उपादान और निमित्त कारण है वह पूर्ण है। उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है। वह आनन्दमय है। इन रूपो मे वह सगुण है। उसमे साधारण मानवीय कोई गुण नही है अत. उसे निर्गुण कहा जाता है। जीव वास्तविक है। वे ब्रह्म के एक अंश है। वे ब्रह्मरूपी अग्नि के कण के तुल्य है। जीवात्मा परमाणुतुल्य होता है। जीव ब्रह्म में जो अंतर दिखाई देता है, वह वास्तविक नही है, अपितु वह अतर ब्रह्म की इच्छा के कारण है। यह अतर अद्वैत मत के तुल्य माया के कारण नही है। अत इस मत मे माया की सत्ता न होने से इसे शुद्धाद्वैत मत ब्रह्म अपनी स्वतत्र इच्छा से जीवो को अपने शरीर के तुल्य दिव्य शरीर प्रदान करता है, जिससे वे ब्रह्म के साथ सदा क्रीडा किया करे। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध नायक–नायिका भाव (पति–पत्नी भाव) सम्बन्ध है। भक्ति और आत्मसमर्पण से ब्रह्म का अनुग्रह प्राप्त होता है। इस मत में ब्रह्म की पूजा कृष्ण रूप में होती है उसके नाम गोपीजन वल्लभ और श्री गोवर्धन नाथ जी या श्री नाथजी है। इस मत मे गुरु को देवतुल्य माना जाता है और उनकी देवतुल्य पूजा की जाती है यह वेद, भगवद्गीता और उपनिषद् तथा भागवत को प्रामाणिक ग्रथ मानता है। जीवात्मा भागवत् के निम्नलिखित सात प्रकार के अर्थों को जानने से मुक्त होता है। भागवत के सात ज्ञातव्य अर्थ ये हैं–शाखा, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य, पद और अक्षर। वल्लाभाचार्य मे ब्रह्मसूत्रो की टीका अणुभाष्य नाम से की है। उन्होने इस भाष्य को अपूर्ण छोड दिया था, उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उसे पूर्ण किया। वल्लभाचार्य ने भागवत् की टीका सुबोधिनी टीका लिखी है। उन्होने वह छोटे ग्रथ लिखे है। इसमे उन्होने शुद्धाद्वैत मत के सिद्धान्तो और

शिक्षको का सक्षिप्त विवेचन किया है। हरिवश, विष्णु पुराण और भागवत पुराण मे राधा का उल्लेख नही मिलता परन्तु बल्लभाचार्य ने राधा को कृष्ण की पत्नी बताया है।[1] वल्लभाचार्य के शिष्य पुरुषोत्तम ने अणुभाष्य की टीका गोपेश्वर ने रश्मिनाम से की है। पुरुषोत्तम ने शुद्धाद्वैत मत के दार्शनिक मन्तव्यो पर एक स्वतत्र ग्रथ 'वेदान्ताधिकरण माला' लिखा है। श्री जयगोपाल ने तैत्तिरीयोपनिषद् की टीका लिखी है। कृष्णचन्द्र ने ब्रह्मसूत्रो की टीका भाव प्रकाशिका नाम से की है।

माध्वाचार्य–(1199–1278)

निःसदेह तेरहवी शताब्दी में दक्षिण के भक्ति आंदोलन के सबसे बडे नेता मध्वाचार्य थे। ये द्वैतमत के सस्थापक थे। इनके गुरू अच्युतप्रेक्षाचार्य ने अद्वैत–सिद्धान्त का खण्डन कर के द्वैतमत की स्थापना की। मध्वाचार्य का वास्तविक नाम वासुदेव था। उनके चार शिष्य थे– पद्मनाभ, नरहरितीर्थ, माधवतीर्थ व अक्षोभ्यतीर्थ। यह मत उपनिषदो की भेद श्रुति पर अवलम्बित है। इस मत के प्रतिपादक ग्रन्थों मे अभेदश्रुतियो और घटक श्रूतियों की इस प्रकार व्याख्या की गई है कि वे द्वैतमत के समर्थक हो। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति ये तीनो नित्य और स्वतत्र सत्ता है। जीवो में परस्पर भेद है और प्रकृति मे भी आन्तरिक भेद है। परमात्मा विष्णु है उसका शरीर अप्राकृत (प्रकृति निर्मित नही) है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है। उसक इच्छा से ही प्रकृति जगत् के रूप मे परिवर्तित होती है। जीवो मे लक्ष्मी सर्वश्रेष्ठ है। वह विष्णु की पत्नी है। जीवो मे वही नित्य है, अविनाशी है।

1.Cultural Heritage of India (435&436)

अन्य जीव बद्ध है। जीवात्मा का परिमाण परमाणु के बराबर है। जीव दो प्रकार के है, पुरुष और स्त्री। यह पुरुष और स्त्री का अन्तर मोक्षावस्था मे भी बना रहता है। परमात्मा और जीवात्मा का सेव्य सेवक भाव का संबध है। निर्धारित नियमो के अनुसार प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि वह परमात्मा विष्णु की उपासना करे। उसकी उपासना से उसका अनुग्रह प्राप्त होता है। भगवद्गीता में जो मार्ग बताए गए हे, उनमे से भक्ति मार्ग ही इस मत मे अपनाया गया है। इस मत के अनुसार तीन प्रमाण है– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। वेद नित्य स्वत प्रमाण है वैष्णव आगन्य प्रमाणिक ग्रन्थ है। पुराण भी बहुत प्रामाणिक ग्रंथ है। माधव ने रामानुज व शंकर दोनो के मतों का विरोध किया। वह अपने विचारो मे काफी स्वतत्र थे और कहते थे कि हरि, विष्णु या नारायण किसी भी नाम से पुकारो ईश्वर एक है। केवल शिक्षा या कर्मकाड ईश्वर प्राप्ति के लिए यथेष्ट नहीं है। मात्र ईश्वर भक्ति व अटूट प्रेम कर्म, ज्ञान और भक्ति अपने मे पूर्ण नही है कितु एक दूसरे के पूरक है उन्होने पवित्रता पर अधिक बल दिया। जिसके लिए अहिसा, सत्यभाषण, साधना, अपरिग्रह, शुद्धता, सतोष, सादगी, अध्याय और ईश्वर भक्ति की अपेक्षा होती थी। मध्वाचार्य ने 36 ग्रन्थ लिखे, इन ग्रन्थो मे मुख्य उपनिषदो की टीकाएं भी सम्मिलित है उनके लिखे मुख्य ग्रन्थो मे –

1 ब्रह्मसूत्रो पर ब्रह्मसूत्रभाष्य नामक टीका

2. ब्रह्मसूत्रो पर एक सक्षिप्त टीका ब्रह्मसूत्राभाष्य

3 ब्रह्मसूत्रो मे से कठिन सूत्रो पर ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान टीका

4 भगवद् गीता की टीका "भगवद गीता भाष्य"

5 भगवद्गीता तात्पर्य निर्णय –इसमे भगवद् गीता के उपदेशो का वास्तविक अभिप्राय प्रकट किया गया है।

6 ऋग्भाष्य

7 तत्त्वविवेक

8 तत्त्वसख्यान

9 तत्त्वोद्योत

10 प्रपचमिथ्यात्वखण्डन

11 प्रमाणलक्षण

12 महाभारततात्पर्यनिर्णय

13 भागवत पुराण की टीका भागवतव्याख्या और

14 विष्णुतत्त्व निर्णय।

द्वैतमत मे मध्व के बाद जयतीर्थ का नाम आता है। वह अक्षोभ्यतीर्थ के शिष्य थे। इनका समय14 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इन्होंने मध्वाचार्य के सभी ग्रन्थो की टीका की है। यदि इनकी महत्त्वपूर्ण टीकायें न होती तो द्वैतमत दार्शनिक दृष्टि से सारहीन हो जाता। महत्त्व के जिन ग्रन्थो की इन्होने टीकाएं की है वे है–

1 ब्रह्मसूत्रानुख्यान की टीका न्याय सुधा

2 प्रपचमिथ्यात्व खण्डन की टीका पंचिका

3 ब्रह्म सूत्रभाष्य की टीका तत्त्व प्रकाशिका और

4 भगवद्गीता भाष्य की टीका प्रमेयदीपिका इन ग्रंथों मे भी द्वैतमत के दार्शनिक महत्त्व का वर्णन है।

शैवमत

शैवाद्वैत मत का कथन है कि शिव सर्वोच्च देवता है। यह मत विशिष्टा द्वैत के ही अनुकूल है। श्रीकण्ठ इस मत के सबसे प्राचीन आचार्य माने जाते है। कुछ ऐसे भी धार्मिक समुदाय है जो कि सर्वथा आगम ग्रन्थो पर ही निर्भर है। तत्कालीन मध्य युग मे कश्मीर में शैवमत प्रचलित था। जोनराज ने इसका वर्णन किया है। इनके अनुसार राजा प्रात. काल शैय्या से उठकर इस श्लोक [1] द्वारा शिववन्दना किया करता था। शैवमत के प्रर्वतक श्रीकण्ठ ने ब्रह्मसूत्रो का भाष्य किया है, वह भाष्य श्री कण्ठभाष्य ही कहा जाता है। वह शैव आगमो को वेदो के तुल्यही प्रमाणिक मानते हैं। इन्होंने इस मत के तीन सिद्धांतों का उल्लेख किया है 1 पति (शिव) 2 पशु (जीव) और 3 पाश (बन्धन) अप्पय दीक्षित (1600) ने इस मत को बहुत बडी देन दी है। इन्होने श्रीकण्ठ भाष्य की टीका शिवामणि दीपिका के नाम से की है। उन्होंने भारत तात्पर्य संग्रह ग्रन्थ लिखा है। इसमें महाभारत की इस प्रकार से व्याख्या की है कि वह शैवमतानुकूल व्याख्या की है। चारों सम्प्रदायो में से प्रत्येक में बहुत कुछ बातें समान पाई जाती है।

पाशुपत

इस शाखा का दूसरा नाम नकुलीश पाशुपत शाखा है। शिव स्वामी है और उनके अतिरिक्त अन्य सभी पशु हैं। न कुलीश ने इस मत के सिद्धांतो का प्रचार किया था। पाशुपत सूत्र और हरदत्ताचार्य के ग्रन्थ इस शाखा के

---

1 पावकनिर्मलदृष्टिं बिबुधगणैरर्च्यमान पादमहम्।
शशिकलादर्शयुत गौरीश शकर वन्दे।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (125)

प्रमाणिक ग्रन्थमाने जाते है। सर्वदर्शन सग्रह (1400 ई0) मे हरदत्ताचार्य का उल्लेख आता है।

शैव

यह शाखा शैव आगमो पर निर्भर है। इन आगमो मे से कामिक, कारण, सुप्रभेद और कातुल ये बहुत अधिक प्रामाणिक आगम माने जाते है। शिव– सर्वोत्तम देवता है। बद्ध जीव इन 6 सिद्धांतो के ज्ञान से मोक्ष पा सकते है। ये छ सिद्धान्त है। 1 पति (स्वामी, शिव) 2 विद्या (तत्त्वज्ञान) 3. अविद्या 4. पशु (जीव) 5 पाश (बन्धन जैसे कर्म, मायादि 6 शिव भक्ति जिसके द्वारा बन्धन मुक्त होता है)। जीव को भक्ति का मार्ग अपनाना चाहिए। इस सप्रदाय मे सांख्य और योग के सिद्धांतो का अनुसरण किया गया है। श्रीकण्ठ का ब्रह्मसूत्र भाष्य यद्यपि वेदान्त विषयक है तथापि यह सम्प्रदाय का समर्थक है। धारा के राजा भोज (1150 ई0–1054 ई0) का तत्त्व प्रकाश और रामकण्ठ (1150 ई0) तथा अघोर शिव (1150ई0 के लगभग) के ग्रन्थ इस शाखा के प्रामाणिक ग्रन्थ है। तमिल प्रदेश मे इस शाखा को शैव सिद्धान्त कहते है। वहां पर यह शाखा शैव आचार्यो के द्वारा तमिल भाषा में लिखित विस्तृत साहित्य पर निर्भर है। कापालिक, कालामुख और लिंगायत आदि शाखाएँ पाशुपत और शैव शाखा की उप शाखाएँ है तथा उनसे सबद्ध हैं।

कश्मीरी शैवमत

काश्मीर में शैवमत का दो प्रकार से विकास हुआ है। एक स्पन्द शाखा ओर दूसरी प्रत्यभिज्ञा शाखा। ये दोनो शाखाएं शैव आगमो पर निर्भर

है। स्पन्द शाखा का मत है कि शिव जगत का कर्ता है। वह जगत का उपादानकारण नही है। और न उसे उपादान कारण की आवश्यकता है। जगत् सत्य है वह जगत् की उत्पत्ति से किसी भी प्रकार प्रभावित नही होता है। मोक्ष प्राप्ति के दो साधन शाम्भव और आगव आदि है। [1] प्रत्यभिज्ञा का भी इन विषयो में यही मत है। साथ ही प्रत्यभिज्ञा शाखा का मत है कि जीव यद्यपि परस्पर पृथक है, परन्तु वे शिव से पृथक नही है। इस तथ्य की अनुभूति इस ज्ञान से होती है कि मै ईश्वर हूँ, मै ईश्वर से पृथक नही हूँ। इसी ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव इस शाखा का नाम प्रत्यभिज्ञा (पहचानना) पडा। जो जीव माया के आवरण से ढके हुए है उनके हृदय में यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इस शाखा का झुकाव अद्वैतमत की ओर है।

उपर्युक्त सभी सत वैष्णव सम्प्रदाय के थे जिन्होने भक्ति मार्ग को प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु उस समय यह मार्ग बहुत लोकप्रिय न हो सका। क्योकि ये सभी मत दार्शन से प्रभावित थे और जन साधारण के समझ से परे थे। इस कार्य की पूर्ति 14 वी शताब्दी मे रामानन्द ने की।

रामानन्द

भक्ति आन्दोलन का आरभ दक्षिण मे हुआ। इसे उत्तर मे लाने का श्रेय रामानद जी को है, जो रामानुज के मतावलबी राघवानन्द जी के शिष्य थे। 14 वी शताब्दी के अन्त मे रामानन्द जी का जन्म प्रयाग (इलाहाबाद) मे हुआ था। उनकी शिक्षा इलाहाबाद व बनारस मे हुई। उन्होंने सम्पूर्ण देश मे भ्रमण किया तथा इसी दौरान मुसलमानो सहित सभी धर्म के विद्वान सतो

1.A Historical & Philosophical Study - K C Pande
अभिनव गुप्ता (पेज –97)

से उनका सम्पर्क हुआ उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था, उन्होने ब्राह्मण (कान्यकुब्ज) होते हुए भी सभी जातियो धर्मो पदों तथा मुसलमानो को भी नर नारी के भेद–भाव के बिना अपना शिष्य बनाया। उन्होने राघवानन्द नामक गुरु से शिक्षा प्राप्त किया। उन्होने अपने विचार रामानुज सम्प्रदाय से प्राप्त किए जिनको उन्होने सरल भाषा मे परिवर्तित कर लोकप्रिय बना दिया। रामानन्द ने भक्ति आदोलन व वैष्णव सम्प्रदाय को तीन प्रकार से प्रभावित किया। प्रथम– उन्होने सीताराम की भक्ति पर बल दिया। द्वितीय– उन्होने अपने उपदेश संस्कृत के स्थान पर सरल हिन्दी में दिये जिससे यह आन्दोलन लोकप्रिय हुआ और साहित्य का निर्माण आरभ हुआ तृतीय– उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से सभी जातियो और स्त्री– पुरुषो को समान स्थान दिया। इन्होने छूआ– छूत के भेद को मिटाया। इन्होने सिद्वान्त के आधार पर जाति–प्रथा का कोई विरोध नही किया परन्तु उनका व्यावहारिक जीवन जाति समानता में विश्वास करने वाला था। उनके 92 शिष्यो मे से धन्ना जाट, सेनदास नाई , रविदास (रैदास) चमार व कबीर जुलाहा थे। उनके प्रयत्नों से भक्ति आदोलन व वैष्णव सम्प्रदाय लोक प्रिय बना, निम्न जातियो का स्तर बढा और स्त्रियो के सम्मान मे वृद्धि हुई। वास्तव मे मध्य–युग का धार्मिक आन्दोलन रामानन्द से आरम्भ हुआ।

आचार्य रामानुज की पीढी मे स्वामी रामानंद पहले सत थे जिन्होने भक्ति के द्वारा जन–जन को नया मार्ग दिखाया। उन्होने एकेश्वरवाद पर जोर देकर हिन्दू मुसलमानो में प्रेम–भक्ति सबंध के साथ सामाजिक समाधान प्रस्तुत किया। उन्होने अन्य दार्शनिकों की भॉति कोरी दार्शनिकता का ज्ञान नही दिया बल्कि सुगमता व व्यापकता पर उन्होने अधिक

जोर दिया। उन्होने न किसी देवता विशेष पर ध्यान केद्रित किया और न किसी उपासना पद्धति पर जोर दिया। जगह–जगह प्रयत्नपूर्वक इन निष्ठावान विचारको ने पडिताऊ भाषा का निषेध किया। उन्होने ब्राहमणों व क्षत्रियों की उच्चता का खण्डन करते हुए भक्ति द्वार सबके लिए खोला। परिणामत रामानन्द की विचार धारा से एक नवीन आदोलन का जन्म हुआ। उनके बाद कबीर, नानक, दादू अदि सतो का एक मात्र ध्येय सामाजिक धार्मिक भ्रष्टाचार से मानव को मुक्त कराना था।

कबीर –

मध्य युग में रामानन्द के सभी शिष्यों में कबीर का महत्त्व सर्वाधिक है। कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। कबीर विधवा ब्राहमणी के पुत्र थे जिनका लालन–पालन काशी के एक मुसलमान परिवार मे हुआ था।उनके माता–पिता नीरू व नीमा थे। मध्ययुगीन सतों में कबीरदास की साहित्यिक व ऐतिहासिक स्मरणीय देन है। कबीर रहस्यवादी परम्परा के भी प्रवर्तक थे। वे मात्र भक्त नही बडे समाज सुधारक थे उन्होने अपना तरसमय योगियो और सूफी सन्तो के साथ बिताया था। अधिक हिन्दू व इस्लाम दोनो के धर्मो के तत्वो को समझा तथा हिन्दू व मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया परिणाम स्वरूप इनके भक्तो मे हिन्दू व मुसलमान बराबर संख्या मे थे जिन्हे कबीर पन्थी कहा गया। कबीर काफी हद तक तत्कालीन स्थितियों को प्रभावित करने मे सफल रहे थे, उन्होने जनसाधारण के धर्म की सहजता या भक्ति की सहजता पर बल दिया। जन साधारण की भाषा में उन्होने बताया कि निर्गुण प्रभु सबका है उस पर किसी व्यक्ति तथा धर्म– जाति आदि का

अधिकार नही है। यह भी सत्य है कि निर्गुण भक्ति धारा में कबीर पहले सत थे जो सत होकर भी अत तक शुद्ध गृहस्थ बने रहे एव शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा को मानव की सफलताओ का आधार माना। इनके ईश्वर निराकार निर्गुण थे। ईश्वर की पहचान के लिए गुरु की अनिवार्यता आवश्यक थी। उन्होने उपवास, व्रत, जोग, जाप, कब्रों की उपासना, तीर्थ व अन्य धार्मिक रीति–रिवाजों की कटु आलोचना की है। उन्होने जाति और मूर्तिपूजा का विरोध किया तथा अवतार के सिद्धान्त को अस्वीकार किया उन्होने ईश्वर की एकता पर बल देकर प्रेम, उपासना तथा भक्ति के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। उनकी शिक्षाए 'बीजक' में संगृहीत है। सरल हिन्दी में लिखी इन शिक्षाओं का जनसाधारण पर बहुत प्रभाव पडा। वे धन को एक सीमित मात्रा में ही आवश्यक मानते थे। धन का सचय करना या उसका लालच करना वे दोष मानते थे। इस प्रकार समाज की आर्थिक क्रिया की ओर भी कबीर ने ध्यान दिया, इसी कारण घर छोडकर साधु बनना उन्हे स्वीकार न था। हिन्दू दर्शन का ज्ञान था और वे राम–भक्ति में विश्वास करते थे। परन्तु कबीर का विश्वास बाह्य आडम्बर, कर्मकाण्ड जाति प्रथा, आश्रम व्यवस्था और धर्म के अन्तरो मे न था। उन्होने कोई नवीन धर्म नही चलाया। उनके अनुसार वह राम व अल्लाह दोनो की संतान है, उनका कहना था कि आरम्भ मे न कोई तुर्क था न कोई हिन्दू न कोई नस्ल थी न कोई जाति। कबीर ने भक्ति को ही मोक्ष का मार्ग बताया है, कबीर के मुख्य उपदेश निम्न प्रकार के थे–

1 सस्कृत एक कुएं के जल के समान है जबकि जन भाषा एक बहते हुए झरने के समान है।

2 यदि पत्थर की पूजा करने से भगवान मिलते हैं तो मै पहाड पूजूंगा।

3 यदि जल मे स्नान करने से निर्वाण प्राप्ति सभव होती तो सबसे पहले को मेढकी को प्राप्त होती है।

4 यदि वस्त्रहीन होकर घूमने से हरि प्राप्त होते तो सबसे पहले उसे जानवर प्राप्त करते।

5 ओ! काजी पुस्तको को पढने वाले मार दिए जाते है, पुस्तक छोडो राम की भक्ति करो।

6 अनेक पुस्तके पढकर भी एक व्यक्ति पडित नही हो सकता, पडित तो वह है जो प्रेम के ढाई अक्षर को समझता है।

7 विभिन्न धर्मो और ईश्वर में केवल नाम का अन्तर है। सोना एक है जेवर बन जाने से उसके नाम अलग–अलग हो जाते हैं।

8 धर्म के कारण झगडा करने वाले अज्ञानी है।

9. नामविवाद से रहित ईश्वर ही सत्य व निर्वाणप्राप्ति का मार्ग है।

कबीर ने धर्म के संबध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित किए हैं। उन्होंने किसी धार्मिक विचार को इसलिए नहीं स्वीकार किया कि वह धर्म का अंग बन चुका है अपितु अंध विश्वासों, व्रत, अवतारोपसना, ब्राह्मण के कर्मकाड को अकर्मण्यता की भूमि से हटा कर कर्मयोग की भूमि पर लाकर खडा कर दिया। कबीर ने पौराणिक धार्मिक परम्पराओं का भी डटकर विरोध किया। वे भक्ति और बाहरी आडंबरों का संबंध सूर्य व अंधकार का सा मानते थे जो एक साथ नही रह सकते। साराश यह है कि कबीर धार्मिक क्षेत्र मे सच्ची भक्ति का सदेश लेकर प्रकट हुए थे। उन्होने निगुर्ण –निराकार भक्ति का मार्ग अपना कर मानव के सम्मुख भक्ति का मौलिक स्वरूप रखा। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि कबीर के राम राजा दशरथ के पुत्र राम

नही है वरन् घर–घर मे निवास करने वाली अलौकिक शक्ति है। जिसे राम–रहीम कृष्ण–खुदा कोई भी नाम दिया जाए। उसका रूप एक ही है। उसकी प्राप्ति के लिए न तो मदिर की आवश्यकता है न मस्जिद की। वह सबमे विद्यमान है और सभी उसे भक्ति तथा गुरु की कृपा से प्राप्त किया जा सकता है।

सामाजिक एवं आर्थिक विचार –

सतो की ओर से जाति –प्रथा को चुनौती बहुत पुराने समय से मिलती आ रही हे। ऐसे सतो मे सर्वप्रथम नाम महात्मा बुद्ध का है। असल में, कबीर नानक आदि उसी धारा के सत हैं जो बुद्ध के कमडल से निकली थी। किन्तु कई बार बधन ढीले होने के बावजूद आज भी जाति प्रथा कायम है। कबीर ने मध्यकालीन विषम सामाजिक परिस्थितियो मे इस प्रथा का डटकर विरोध किया और बिखरे हिन्दू समाज को संगठित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कबीर की दृष्टि मानव की प्रगति विरोधी समाज की व्यवस्था के इस तथ्य पर पहुच गई थी कि वहा विचार के धरातल पर तो समानता का बोलबाला अकसर किया जाता है पर आचार के धरातल पर उनमे भेदभाव है। अत जीवन भर कबीर हिंदू– समाज को समझाते रहे कि जन्म से सभी समान है। जिस व्यक्ति ने पवित्र कर्मों से भक्ति को अपनाया उसकी जाति का सबध ा पूछना अनुचित है। कबीर ने कर्म की श्रेष्ठता के आगे जाति को महत्व नहीं दिया। दैवी एकता के तर्क से कबीर ने ऐसा प्रभाव दिखाया कि उन के शिष्य हर जाति से सबधित थे, उनमे जातिगत भेदभाव भाव था।

आर्थिक दृष्टि से कबीर जन–समाज के लिए धन को अनिवार्य

तत्त्व माना और उसे शरीरिक परिश्रम द्वारा आवश्कता के अनुकूल अर्जित करने एक उपभोग करने का सदेश दिया। वे उतने ही धन को सर्वोपरि समझते थे, जो दैनिक आवश्यकताओ की भली प्रकार पूर्ति करे। एक स्थान पर वे लिखते है कि हे माधव, मुझसे भूखे पेट भक्ति नही होगी। लो अपनी माला सभालो, तुम तो कुछ दोगे नही तो लो मै ही कुछ माग लूँ।" कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति भूखे पेट नही होती और भोजन के लिए धन की आवश्यकता होती है परन्तु धन सचय एव वैभव की उन्होंने निदा की तथा लोकहितार्थ धनोपार्जन को श्रेयस्कर बताया कि कोई किसी का आर्थिक शोषण न कर सके। वे मानते हैं कि मानव मे कर्तव्य का विवेक हो तो समाज स्वस्थ हो सकता है। इस प्रकार उन्होने अपने व्यक्तित्व से कथनी व करनी दोनो के द्वारा युग–युग से पीडित समाज के निम्न वर्ग को आत्मसम्मान दिया। उन्होने उपेक्षितो मे आशा और विश्वास को पैदा करते हुए जीवन की एक नवीन दिशा का सकेत दिया।

साराश मे कबीर ने जीवन के सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण विचारधारा का बीजारोपण किया। उन्होने विचारों की उच्चता, ताजगी तथा सादगी से परवर्ती विचारो को बहुत पीछे छोड दिया। वैसे तो उन्होंने मानव समाज को बहुत कुछ दिया किन्तु समकालीन समाज व धर्म के क्षेत्र मे उनकी तीन बातों का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पडा था। ये बातें है।

1. वर्णव्यवस्था पर कुठाराघात
2 सांप्रदायिक तत्त्वो का बहिष्कार और
3. भक्ति की सादगी एव व्यापकता का प्रचलन।

उनके विचार किसी व्यक्तिगत स्वार्थ पर नहीं टिके थे। अत

जिस भी कुरीति पर उन्होने चोट की पूरी निर्भीकता से की। उनके विचारो ने धर्म, दर्शन व समाज को प्रभावित किया क्योकि वो समकालीन वातावरण मे उपयुक्त था। जैसा कि मैकोलिफ ने कहा कि यह एक निडर अन्वेषी था, भारत के हिन्दू– मुसलिम समुदायो की एकता का महान अग्रदूत था और मानवता की आस्था का समर्थक था। उसका उपदेश था कि दैवी शक्ति मानव की समग्रता मे प्रकट होती है। इस प्रकार कबीर उच्च कोटि के निर्गुण भक्त ही नही थे अपितु वे समाज सुधारक, उपदेशक, एव प्रगतिशील विचारक भी थे।

नानक –

कबीर की शाति हिन्दू और मुसलमानों की एकता मे विश्वास करने वाले एवं पारिवारिक जीवन बिताने वाले एक अन्य संत नानक (1469–1538 ई0) थे। कबीर के बाद मध्ययुगीन समाज को प्रभावित करने वाले संतो मे नानक का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण रहा हे। वैसे निर्गुणमार्गी संतो मे नानक का व्यक्तित्व बहुत शात है विचारों और सामाजिक आचारो की दुनिया मे परिवर्तन लाने वाले नानक ने प्रेम, मैत्री और सहानुभूति और सर्वहितचितन के द्वारा बिना किसी पर आघात किए कुसंस्कारो को नष्ट करने का प्रयास किया। जहां एक ओर उन्होंने मानव के सामाजिक दु·खों का अनुभव किया, वहा दूसरी ओर अधविश्वासो और गलत मान्यताओ को भी दूर करने का प्रयास किया। भेदभाव से ऊपर उठकर वे हिंदू– मुसलमानो को एक दृष्टि से देखते थे। नानक ने अपने उपदेश छोटी कविताओं में दिया जिन्हे सिक्खो के पाचवे गुरु अर्जुन ने आदि ग्रन्थ मे सकलित किया, उनके "जप" जी एक मुख्य कविता है जो नानक के विचारों को स्पष्ट करती है, उसी का एक भाग

मूल–मत्र है जो नानक के आध्यात्मिक विचारो को स्पष्ट करती है उनके अनुसार ईश्वर एक है और उसका नाम है आदि सत्य। वह अनन्त है और ससार का निर्माता है। नानक का विश्वास ईश्वर की एकता मे था। वे ईश्वर के अवतारवाद मे विश्वास नही करते थे उनके अनुसार ईश्वर को मनुष्य रूप मे जन्म लेने की कल्पना करना करना उसे जन्म मृत्यु के पाश मे बाधना है जबकि ईश्वर उससे मुक्त होता है। नानक के अनुसार मनुष्य का प्रमुख लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है और मोक्ष प्राप्ति का अर्थ है आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना आध्यात्मिक उन्नति द्वारा ही सम्भव है। उनके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति के अभाव मे आत्मा निरन्तर जन्म व मृत्यु के बंधन में बंधी रहती है। जब व्यक्ति एक सीमा तक आध्यात्मिक प्रगति कर लेता है तब उसकी आत्मा परमात्मा मे लीन हो जाती है और इस प्रकार उसे जन्म व मृत्यु के घेरे से मुक्ति मिल जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि नानक हिन्दू–दर्शन के जीव के आवागमन के सिद्धात मे विश्वास करते थे। नानक ससार को माया या छलावा नहीं मानते थे उनके अनुसार संसार का अस्तित्व है यद्यपि वह उसे अस्थायी और नष्ट हो जाने वाला मानते थे। नानक ने व्यक्ति को घर परिवार छोडकर सन्यासी या साधु बन जाने की सलाह नही दी है। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए। व्यक्ति को भीख मांगने या किसी से भोजन मागने के स्थान पर ईमानदारी और परिश्रम से धन कमाकर स्वयं का और अपने परिवार का पालन करना चाहिए। वह उसे एक सामाजिक उत्तरदायित्व व उन्नति का मार्ग मानते थे। नानक सत्सग को भी महत्त्व देते थे। अकेले बैठकर ईश्वर की आराधना करने के साथ–साथ

अन्यो के साथ मिलकर ईश्वर को याद करना भी वह आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार धार्मिक कर्मकाण्ड जैसे व्रत, पूजा, तीर्थयात्रा, तिलक लगाना आदि व्यक्ति को दया, क्षमा सत्य आदि सद्गुणो का पालन करना चाहिए जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार क्रोध, ईष्या, द्वेष आदि दुर्गुणो को वह आध्यात्मिक प्रगति मे बाधक मानते थे। नानक मूर्ति पूजा के विरोधी थे और किसी भी धार्मिक ग्रन्थ मे उनकी आस्था न थी। उनके अनुसार कर्मकाण्ड मूर्ति पूजा, अवतार वाद और धर्मग्रन्थो अथवा पैगम्बरो मे अधविश्वास मोक्ष प्राप्ति मे बाधा है। उनका कहना था कि व्यक्ति जैसा कर्म करेगा उसी के अनुसार उसको परिणाम प्राप्त होगा। कर्म सिद्धांतों को वे प्रधानता देते थे। वेकहते थे कि जो व्यक्ति जैसा बोयेगा वैसा काटेगा अर्थात अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा व बुरे कर्म का परिणाम बुरा होगा। व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार यह जीवन प्राप्त करता है, और निर्वाण प्राप्ति केवल वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त करता है। नानक ने जाति– प्रथा का विरोध किया है। नानक ने स्त्री को पुरुष का साथी व सहयोगी बताया है उन्होने स्त्री को भी समान रूप से मोक्ष का अधिकार दिया है।

नानक के विचार वेद, उपनिषद् और भागवत् जैसे हिन्दू धर्म ग्रन्थो से ही लिए गए थे। कर्म सिद्धान्त जीव के अवागमन के सिद्धांत, निष्काम कर्म करना आदि हिन्दू धर्म के सिद्धांत रहे है। परन्तु नानक ने हिन्दुओं के अवतारवाद, नर्क और स्वर्ग के विचार, जाति व्यवस्था कर्मकाण्ड आदि का विरोध किया। नानक नेस्वय अपना कोई पृथक धार्मिक सम्प्रदायबनाने का भी विचार नही किया। उन्होने तो केवल शिष्य बनाये थे जो सिख कहलाने लगे। बाद मे विभिनन कारणो के फलस्वरूप सिख धर्म एक पृथक् धार्मिक सम्प्रदाय

के रूप मे विकसित हुआ। नानक ने समन्वय का मार्ग, अपनाया। नानक के मत मे सच्चा समन्वय वही है जो ईश्वर की मौलिक एकता को पहचाने और उसके असर से मानव की एकता पहचानने की समझ दे। विशाल मानवतावादी दृष्टि को ग्रहण कर जो समस्त मनुष्य जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार के कुसस्कारो के बधनो से मुक्त कर जीवन की उच्च भूमि पर ले जाने की प्रेरणा दे वही सच्चा समन्वय है।

प्राय मध्ययुगीन सन्तो का सदेश धार्मिक व सामाजिक जीवन तक ही सीमित रहा, परतु नानक इस दृष्टि की व्यापकता से भी आगे रहे और परवर्ती कालो मे सिख सप्रदाय के प्रर्वतक बने। कनिंघम के शब्दों में नानक ने सुधार के सच्चे सिद्धातो का बडी सूक्ष्मता से साक्षात्कार किया और ऐसे व्यापक आधार पर धर्म की नींव रखी जिसके द्वारा गुरु गोविन्द सिह ने अपने देशवासियो मे नवीन राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। उत्तम सिद्धातों को ऐसा व्यावहारिक रूप दिया कि उनके धर्म मे छोटी– बडी जातियॉ को जीवन के सभी क्षेत्रो में समान मर्यादा प्राप्त हुई।

नानक के प्रभाव से पजाब की जनता के साथ –साथ देश को भी नई दिशा मिली तथा समानता, बधुता, ईमानदारी तथा सृजनात्मक शारीरिक श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन पर आधारित नई समाज–व्यवस्था स्थापित हुई। उन्होने पारंपरिक समाज व धर्म की भर्त्सना एव विरोध का मार्ग ही नही अपनाया वरन आध्यात्मिक साधना वाली भक्ति और सूफी परम्परा की मध्यकालीन भारतीय जीवन तथा सामाजिक राजनीतिक परिवर्तनो के संदर्भ मे व्याख्या भी की। उनका यह प्रयास अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व ध्यान देने योग्य है।

वस्तुत गुरु नानक मे विचारपरक जनतात्रिक सिद्धातो के महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते है जो समाजवादी समाज का पूर्वाभास देते है। यहा सप्रदायवाद और जातिवाद की निदा के सकेतो के साथ–साथ उनकी सामाजिक दायित्व की भावना का उदार रूप देखनेको मिलता है।

नानक ने जिस धार्मिक आन्दोलन को आरंभ किया था उसे उनके अनुयायियों ने आगे बढाया कबीर ने समाज की बुराइयो की ओर ध्यान आकृष्ट कराया किन्तु गुरु नानक के उपदेशों मे एक सुनिश्चित धर्म के बीज मौजूद थे यही कारण है कि समय बीतने पर सिख मत ने एक पूर्ण धर्म का आकार ले लिया। पजाब मे भक्ति आदोलन के सामाजिक –राजनीतिक आयाम के अध्ययन से पता चलता है कि किस प्रकार विरोध परक आदोलन एक नए सामाजिक– राजनीतिक सगठन एव उसके विकास था कारण बन सकता है।

अन्य संत

कबीर व नानक के साथ–साथ निर्गुण भक्ति की परपरा मे दादू का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी सुधारवादी भावना तथा रचनाओ का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है अन्य निर्गुण सतों की तरह दादू भी बाह्य साधना से हट कर वैयक्तिक साधना पर जोर देते है। परमात्मा के उपासक सत सप्रदायो मे दादू की यह विशेषता है कि इसमे पुस्तकीय ज्ञान का तिरस्कार न कर लिखित रूप मे सत वाणियो की रक्षा पर विशेष जोर दिया गया है। सक्षेप मे दादू ने विनम्रता, अह से निर्लिप्त रहने और भक्ति के माध्यम से ही ईश्वर प्राप्ति पर

जोर दिया है। दादू ग्रन्थावली से सकल्पनाओ मे से एक अत्यधिक महत्वपूर्ण संकल्पना गुरु की संकल्पना।

महाराष्ट्र के संत

मध्यकालीन भक्ति आदोलनों के विकास तथा लोकप्रियता मे महाराष्ट्र के सतो का महत्वपूर्ण योगदान है ज्ञानेश्वर, हेमाद्रि और चक्रधार से आरभ होकर रामनाथ तुकाराम, नामदेव ने भक्ति पर बल दिया है तथा एक भगवान की संतान होने के नाते सबकी समानता के सिद्धात को प्रतिष्ठित किया। नामदेव ने भरपूर कोशिश के साथ जाति–प्रथा का खण्डन किया। अगर सामाजिक क्षेत्र में जाति–प्रथा को उखाडने मे सफल न भी हुए हो तो भी उन्होने आध्यात्मिक क्षेत्र में आचरण की शुद्धता, भक्ति की पवित्रता तथा सरसता और चरित्र की निर्मलता पर बल दिया। नामदेव की मराठी तथा हिन्दी रचनाओ में इनकी निर्गुणवादिता का रूप स्पष्ट दिखाई पडता है। उन्होंने क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से महाराष्ट्र के संतो की न केवल वार्षिक तथा सामाजिक उन्नति की अपितु मराठों के राजनीतिक उत्थान मे बुनियादी कार्य किया। उनके विचारो से महाराष्ट्र की जनता में एकता व नवीन सगठन का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार मध्ययुगीन इतिहास पर महाराष्ट्र का संतों को महत्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वल्लभाचार्य –

कृष्ण की भक्ति मे विश्वास करने वाले एक महान संत वल्लभाचार्य (1479–1531) हुए। उनके पिता लक्ष्मण भट्ट तेलंगाना के ब्राह्मण थे।

इतने योग्य थे कि इन्होने अल्पायु मे ही चारो वेद, छ शास्त्रों व 18 पुराणो का अध्ययन कर लिया। काशी मे अपनी शिक्षा पूर्ण करने के बाद वे अपने गृहनगर विजयनगर चले गए और कृष्णदेव राय के समय में उन्होने वहॉ वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा स्थापित की। वे भी एक पारिवारिक सत थे। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी था। वे द्वैतवाद मे विश्वास करते थे और श्रीनाथ जी के समय मे कृष्ण भक्ति पर बल दिया। उन्होने अनेक ग्रथ लिखे जिनमें से 'सुबोधिनी' और 'सिद्धात –रहस्य' बहुत विख्यात हुए। उनका बाद का समय अधिकाशतः वृन्दावन और काशी में व्यतीत हुआ। वे कृष्ण को ब्रहमपुरुषोत्तम और परमानन्द का स्वरूप मानते थे। वे उनके प्रतिपूर्ण प्रेम और भक्ति को ही निर्वाण प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बताते थे। भक्ति और प्रेम के प्रति वल्लभाचार्य का दृष्टिकोण अत्यत भावुक था जिसके कारण उन्होंने कविता, गान, नृत्य, चित्रकला आदि को प्रोत्साहन दिया। कृष्ण का गोप–गोपियो के बीच रासलीलाएं रचाने मे भी उनका विश्वास था और उन्होने उसे बहुत लोकप्रिय बनाया। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने कृष्ण भक्ति को और भी अधिक लोकप्रिय बनाया। अकबर ने उन्हे गोकुल और जैतपुरा की जागीरे प्रदान की। औरगजेब के समय मे श्रीनाथ जी की मूर्ति को उदयपुर पहुंचा दिया गया जहा वह नाथद्वारा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

18वी व 19वीं सदी में उनके कुछ समर्थकों ने राधा कृष्ण की इस सम्प्रदाय मे कुछ विकृत स्वरूप प्रदान किया जिसके कारण इस सम्प्रदाय में कुछ दोष आए परन्तु तब भी यह सम्प्रदाय कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाने मे पर्याप्त सफल रहा।

चैतन्य

भक्ति मार्ग के एक अन्य महान सन्त चैतन्य हुए। 1486 ई0 बगाल के नदिया नामक स्थान पर इनका जन्म हुआ था। नदिया उस काल मे धार्मिक विद्या का एक मुख्य केन्द्र स्थान था। इनका परिवार ब्राह्मण था जो सिलहर से आकर नदिया मे बस गया था। चैतन्य के बचपन का नाम निमाई था। बचपन से ही उन्हे हरि के नाम से प्रेम था और उनके खेल कूद और नटखटपन मे श्री कृष्ण की बचपन लीलाओं से सामंजस्य था। उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया गया और उन्होने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। उन्होने तर्क भाषा और व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया उन्होंने नदिया के और निकट के क्षेत्रो के विद्वानो से वाद–विवाद किया और विद्वत्ता में ख्याति अर्जित की। उन्होंने विवाह किया और और पहली पत्नी की शीघ्र मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह भी किया। उन्होने नदिया में ही शिक्षक का कार्य आरम्भ किया। 1508 ई0 मे वह अपने मृत पिता का श्राद्ध करने के लिए गया की तीर्थयात्रा करने गये। वहां वैष्णव धर्म के माधव सम्प्रदाय के अनुयायी और माधवेन्द्र के शिष्य ईश्वरपुरी ने उन्हे कृष्ण–मंत्र दिया। वापस आते समय यात्रा के दौरान उन्हे कृष्ण–दर्शन हुआ। उसने उनके जीवन को पूर्णतया नवीन मोड प्रदान किया। नदिया पहुच कर उन्होने शिक्षा व अध्ययन दोनों को ही छोड दिया और मात्र कृष्ण भक्ति ही करने लगे। उनके भक्तिभाव से प्रभावित होकर बहुत से लोग उनके पास एकत्रित होने लगे चैतन्य ने बहुत शीघ्र सन्यासी बनने का निर्णय लिया। 1510 ई0 मे केशव भारती नामक सन्यासी ने उन्हे सन्यास की दीक्षा दी और श्री कृष्ण चैतन्य नाम दियाा।

चैतन्य के विचारों का आधार मूलतया भागवत पुराण राधा–कृष्ण

के प्रेम की कविताओ का प्रभाव था। जिन्होने बगाल मे वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग को लोकप्रिय बनाया। चैतन्य सम्भवतया उन भावपूर्ण प्रेम कविताओ से प्रभावित हुए थे। जयदेव की रचना का राधा कृष्ण का प्रेम आत्मा द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम का भाव था। चैतन्य का कृष्ण प्रेम भी इसी प्रकार का था।

चैतन्य कृष्ण भक्ति के समर्थक थे। ईश्वर प्राप्ति के लिए उन्होने राम के स्थान पर ईश्वर प्रेम और भक्ति पर बल दिया। उनके लिए प्रेम एक आध्यात्मिक भावना का नाम था। एक व्यक्ति का ईश्वर के प्रति प्रेम उनके लिए एक आत्मा का ईश्वर के प्रति प्रेम था। कृष्ण के रूप मे ईश्वर प्राप्ति या निर्वाण प्राप्ति का एकमात्र मार्ग था। चैतन्य का ईश्वर –प्रेम अदभुत था। वे श्रीकृष्ण का नाम लेते हुए हसते थे, रोते थे, नाचते थे, गाते थे और अक्सर मूर्छित हो जाते थे। उन्होने भक्ति मे कीर्तन करने को मुख्य स्थान दिया जिसमे व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर गाते–बजाते हुए कृष्ण का नाम लेते व भजन गाते थे वे और उनके शिष्य पुरी की सडकों पर भजन–कीर्तन करते हुए नाचते गाते थे और इतने मस्त हो जाते थे कि उनमे से अधिकतर मूर्च्छित हो जाते थे अथवा अर्ध पागलपन की अवस्था मे पहुंच जाते थे। चैतन्य ने मूर्ति–पूजा व धार्मिक ग्रन्थो की श्रेष्ठता बनाए रखा परन्तु उन्हें आडम्बर व कर्मकाडो से घृणा थी। उन्होने विवाह, श्राद्ध आदि धार्मिक कार्यो को सरल बनाने का प्रयत्न किया यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने सामाजिक सुधार को अपना लक्ष्य नही बनाया था, चैतन्य समाज सुधारक नही थे। इस कारण उन्हे सामाजिक कुरीतियो की ओर ध्यान नही दिया। परन्तु ईश्वर व धर्म मे सभी व्यक्तियो और स्त्री–पुरुषो को उन्होंने समान माना है। चैतन्य वस्तुत वैष्णव

सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे मूर्ति पूजा भी बगाल के वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियो के लिए ईश्वर प्राप्ति का मुख्य साधन रहा। चैतन्य के जीवन व विचारो को जानने के लिए एक मुख्य स्रोत 16 वी सदी के अन्तिम वर्षो मे कविराज कृष्णदास द्वारा लिखा गया चैतन्य –चरितम् नामक ग्रन्थ है।

15 वी शताब्दी मे नामदेव के भक्तिमार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। वह जाति–भेद मे विश्वास नही करते थे मुसलमान भी उनके शिष्य थे। वे मूर्ति पूजा व कर्मकाड के विरोधी थे। उपर्युक्त सतों के अतिरिक्त अन्य अनेक महान सत हुए। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, जनतीर्थ, विद्याधिराज, रविदास, मलूकदास, चण्डीदास, विद्यापति, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि विभिन्न महान सत समय –समय पर हुए । भक्ति मार्ग कई सदियो तक प्रभावपूर्ण रहा। साथ ही साथ भक्तिमार्ग की धारा सम्पूर्ण मध्य युग मे अविरत गति से बहती रही। भक्ति मार्ग कई सदियो तक प्रभावपूर्ण रहा। पंजाब से लेकर बगाल तक और हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक भारत का कोई भी ऐसा भाग न था जहा यह आन्दोलन भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के पश्चात् नही हुआ। 19 वी शताब्दी के धार्मिक पुनरुद्वार आंदोलन का क्षेत्र और समय उसकी तुलना मे बहुत सीमित रहा। इसी से इस आदोलन का प्रभाव स्पष्ट है।

भक्ति आदोलन व्यापक था और सारे देश मे उसका प्रचार हुआ। यह एक जनसाधारण का आदोलन था और इसके कारण उसमे एक गम्भीर जागृति उत्पन्न हुई। बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारत में इतना व्यापक और लोकप्रिय अन्य कोई आंदोलन नही हुआ। इसके दो कारण थे पहला

हिन्दू धर्म का सुधार करना, जिससे वह इस्लामी प्रचार तथा विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा कर सके तथा दूसरा तथा इस्लामी धर्मो मे समन्वय तथा दोनो सप्रदायो मे मित्रतापूर्ण सबध स्थापित करना। पहले उद्देश्य मे इसे सफलता मिली, पूजा–पाठ मे कुछ सरलता आयी और परम्परागत जाति व्यवस्था कुछ उदार हुई। हिन्दू जनता मे ऊँच तथा नीच वर्गों के लोग अपने–अपने अनेक गूढ विचारो को भूलकर सुधारको, के इस सदेश मे विश्वास करने लगे कि ईश्वर की दृष्टि मे सभी समान है और जन्म मोक्ष के मार्ग मे बाधक नही हो सकता। आरम्भ मे हिन्दुओ में मूर्तिपूजा न थी सम्भवतया इसे उन्होने बौद्धो से प्राप्त किया, जब मुसलमानी आक्रमण ने इसे दुष्कर बना दिया तो मध्ययुग के धर्म प्रचारको ने मूर्ति पूजा को अनावश्यक बताया। इस्लाम हिन्दू जाति प्रथा से लाभान्वित हुआ था। अत धर्म प्रचारको ने जाति प्रथा के बन्धनो को समाप्त करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त संस्कृत विद्या के अध्ययन की सुविधा न होने से और हिन्दू शिक्षालयो के अभाव में हिन्दुओ के बौद्धिक स्तर का ज्ञान–मार्ग को समझने योग्य न होने से भक्ति मार्ग उनके सम्मुख सबसे अधिक सरल और जनसाधारण के समझने योग्य मार्ग रह गया। राजनीतक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से पदाक्रान्त हिन्दुओ के पास सम्भवतया ईश्वर पर आश्रित होने के अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता नहीं रह गया था। भक्ति मार्ग व भक्ति आदोलन में संघर्ष की भावना का अभाव भी इस का एक कारण था। तत्कालीन युग मे इस आदोलन ने थोडी बहुत सफलता प्राप्त की, परतु वह सफलता न तो प्रभावी थी और न ही स्थायी। हिन्दू धर्म की सुदृढ प्राचीरों को यह आदोलन न तोड सका इस कारण हिन्दू धर्म में सुधार करने में इस

आदोलन की क्षमता सीमित और अस्थायी सिद्ध हुई। परन्तु फिर भी आत्मा को जीवित रखने और शक्ति प्रदान करने मे उसका योगदान अमूल्य रहा है। इस आदोलन के फलस्वरूप यह ध्यान देने योग्य बात है कि निर्गुण सतो की सामतवादी धारणा ने मुसलिम धर्म स्वीकार कर लेने वाले हिन्दुओ को सतुलित स्तर पर हिन्दू भक्त के रूप मे पुन धर्म परिवर्तन करने का आधार प्रस्तुत किया। कुछ सीमाओ के बावजूद इस आंदोलन की उपलब्धियॉ विलक्षण थी। अपने सदेश से वे समाज के शांति पूर्वक रूपातरण के लिए आधार प्रस्तुत कर रहे थे। सच तो यह है कि महाराष्ट्र, गुजरात, पजाब, तथा बंगाल के धर्मो व देश के अलग–अलग प्रयासों द्वारा हिन्दू– मुसलिम संस्कृतियों के प्रतिकूल रूप का परिशोधन किया गया। 14 वी शताब्दी से ही हिन्दू –मुस्लिम धर्मो के उन तत्त्वो का सगत विरोध आरंभ हो चुका था जो साप्रदायिक सामंजस्य तथा स्वाभाविक सहानुभूति के मार्ग में बाधा स्वरूप खडे थे। दूसरे कारण के आधार पर इस आदोलन को बहुत सफल तो नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि तत्कालीन समय मे तो इसका प्रभाव बहुत कम रहा। और स्थायी प्रभाव तो उसका हुआ ही नही हिन्दू– मुसलमानो में पारपरिक अन्तर आज भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। परन्तु एक अन्य दृष्टि से यह आंदोलन बहुत महत्वपूर्ण रहा कि विभिन्न संतो ने अपनी–अपनी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को काफी समृद्धशाली बनाया इस कार्य में उन के उपदेश, भजन कविता, व दोहों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। हिंदी, बगला मराठी आदि सभी भाषाओं के साहित्य निर्माण उसके द्वारा सम्भव हुआ। इस प्रकार भक्ति कालीन प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के विकास के इतिहास में स्वर्ण युग सिद्ध

हुआ। इस प्रकार मध्य युग का यह भक्ति आदोलन महत्त्वपूर्ण तथा अपने युग की एक महान विशेषता माना गया।

भारत मे इस्लाम के आगमन के फलस्वरूप कई प्रकार के आदोलनो को जन्म मिला, जिनमे हिदू और मुसलमान इन दो समुदायो को परस्पर निकट जाने का प्रयास था। या फिर इस्लाम मे भी कुछ सुधार करने की कोशिश की गई थी। भारत मे बडी सख्याओ मे निम्न जाति के लोगो ने धर्म परिवर्तन के बाद भी अपने पुराने रीति रिवाजो व अन्ध–विश्वासों को कायम रखा जिनसे इस्लाम अपने मूलधर्म सिद्धांत 'शरीयत' से अलग होने लगा। धर्म में सुधार के लिए कई रहस्यवादी सगठनों अथवा सिलसिला का सयोजन किया गया। आइने–अकबरी में अबुल फजल ने ऐसी चौदह सिलसिलो का उल्लेख किया है, इनमे अधिकाश रहस्यवादी समूह अथवा सिलसिला की उपशाखाएं थी। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, कादरी, शत्तारी, नक्शबंदी अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इनमें से प्रत्येक धार्मिक ग्रथ की शुरुआत भारत से बाहर हुई किन्तु सस्थापको और उपदेशकों के प्रचार के कारण यहा काफी लोकप्रिय हो गए। इनमे से कई उपदेशक यहां आकर अपने मत के प्रचार के लिए संस्था स्थापित करके बस गए। इन मतो मे आपसी अतर भी रहा। उदाहरणार्थ चिश्ती 'सभा' मे विश्वास रखते थे, जिसके अनुसार गीत और सगीत आत्मोत्थान के माध्यम के रूप में उपयोगी थे तथा उनकी यह मान्यता थी कि 'शरीयत' मे इसकी व्यवस्था है। किन्तु कई उलेमा तथा धार्मिक विद्वान इसे स्वीकार नही करते थे। चिश्ती के अनुसार शरीयत की उपासना पद्वति मे ही व्यक्तिगत और एकांत साधना की रीति चलाई गई थी। इसके अनुसार

ईश्वर व उपासक का सबध उपासना के द्वारा अलौकिक काव्यमय स्तर तक पहुचाता था। ये चारो सगठन धन–सचय तथा सुहरावादियो का ऐसा विश्वास था कि मन ईश्वर मे लीन है तो धन संचय और वितरण करने में कोई आपत्ति नही है। जबकि चिश्ती मानते थे कि अपनी सभी आवश्यकताओ के लिए भी ईश्वर पर ही निर्भर होना सच्ची भक्ति है। चारो सगठन शरीयत के अनुसार चलना उचित मानते थे किन्तु कादरी और नक्शबदी नियम पालन मे बडे कट्टर थे। चिश्ती पथ सिजिस्तान के मूल निवासी ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती ने भारत मे चिश्ती पथ की शुरुआत की थी। वे 1193 ई0 मे भारत आए तथा राजनीतिक व धार्मिक महत्त्व के स्थान अजमेर पहुचे। वे अत्यधिक दयालु तथा मानवतावादी थे। उनके पथ का हिन्दुओ पर बहुत प्रभाव पडा, लोग बडी सख्या मे उनके शिष्य बन गए। उनके शिष्यो में शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी और शेख हमीदुद्दीन (1276 ई0) महत्त्वपूर्ण थे काफी (1235 ई0) ने दिल्ली मे तथा हमीद ने राजस्थान मे अपने पंथ का प्रचार किया। हमीद का प्रमुख शिष्य फरीद्उद्दीन मसूर गंज–ए– शवर था। वह अपने पीछे कई खलीफाओ को छोड गए थे जिनमें शेख निजाममुद्दीन औलिया सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। उनके नेतृत्व मे सिलसिला का प्रचार–प्रसार देश के अन्य भागों मे हुआ। वे एक प्रकार के धार्मिक साम्राज्य की स्थापना मे सफल हुए जिसे उनके शिष्यों ने तीस वर्षो से अधिक समय तक सुरक्षित रखा। इन खलीफाओ के प्रयास के फलस्वरूप भी बंगाल, बिहार, उडीसा, गुजरात और मालवा तथा सुदूर दकन मे भी इस पथ के केद्रो की स्थापना हो गई। अपनी पुस्तक "सम आस्पेक्टस आफ रिलिजन एड पौलिटिक्स इन इडिया ड्यूरिंग द थर्टीन सेचुरी" मे चिश्ती अहमद निजामी ने ठीक ही कहा

है कि भारत मे चिश्ती सतो की सफलता तथा लोकप्रियता उनके द्वारा भारतीय परिस्थितियो तथा धार्मिक प्रवृत्तियो की जानकारी तथा भारतवासियो के उत्साह के कारण ही सभव हो सकी थी। चिस्तियो की प्रवृत्ति उदार थी और वे मानते थे कि ईश्वर तक पहुंचने के कई रास्ते है वे अद्वैतवाद के परपरागत सिद्धातो मे विश्वास करते थे। इस पंथ के सिद्धान्तो का प्रारभिक सकेत उपनिषदो मे भी है। इस पथ के संतो के अत्यत सादा तथा सरल रहन–सहन ने हिंदुओ को भी प्रभावित किया।

सुहरावर्दी पंथ

मध्यकालीन भारत में सुहरावर्दी ही ऐसा अन्य सिलसिला था जिसके अनुयायी यथेष्ट सख्या मे थे। बगदाद के शिक्षक शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी (1154) इस सिलसिला के सस्थापक थे। भारत मे इसका प्रसार उनके शिष्यों जलालुदीन तबरीजी और बहाउद्दीन जकारिया के द्वारा हुआ। तवरीजी ने बगाल को अपना क्षेत्र बनाया तथा बडी सख्या में हिन्दुओ का धर्म परिवर्तन कराने के उपरात वहा एक खानकाह की स्थापना की। शेख रूक्नुद्दीन 'अबुलफत' इस पंथ का महत्वपूर्ण खलीफा हुआ जो चिस्ती पथ के निजामुद्दीन औलिया की भाति ही बहुत प्रसिद्ध हुआ। चिश्तियो के विपरीत इस पथ के संत बहुत आराम की जिदगी व्यतीत करते थे अपने परिवार की सुविधा का विशेष ख्याल रखते थे। सुहरावर्दी यह विश्वास करते थे यदि हृदय निर्मल है तो धन सचय में कोई बुराई नही है। वे सरकारी विभाग से सक्रिय रूप से सबद्ध थे ओर शेख– उल– इसलाम और सद्र–ए– विलायत का पद उन्होने स्वीकार

किया था। वे राजा को सर्वशक्तिमान मानते थे। उनके अनुसार राजा का अपमान ईश्वर का अपमान है ये लोग विलासिता पूर्ण जीवन को ही जीने का सही अग मानते थे।

कादरी सिलसिला

इस्लाम मे सबसे पहला रहस्यवादी पथ शेख कादिर गिलानी (1077–1166 ई0) के द्वारा स्थापित किया गया। भारत में इस सिलसिला की शुरुआत सैयद मुहम्मद गिलानी (1577 ई0) से हुई। उनके पास काफी सपत्ति थी, वे मुल्तान के निकट आकर बस गए थे। इनके कई हिन्दू अनुयायी थे। जिनमे से कई ने धर्म परिवर्तन कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इस पथ के सबसे प्रसिद्ध सत शेख मीर मुहम्मद या मिया मीर हुए। भारत मे इस पथ के समर्थक बहुत ज्यादा नही बन पाए। सुलतानो के समय के शत्तारी सिलसिला और फिरदौसी की शुरुआत भी भारत में की गई किन्तु इनका प्रभाव अधिक समय तक नही रहा।

शत्तारी सिलसिला (1485 ई0)

शाह अब्दुल्ला ने शत्तारी सिलसिला चलाया। ये सभी धर्मो का आदर करते थे। शत्तारी सतो ने हिन्दू मुसलमानो के धार्मिक विचारों विचारों तथा रीतियो में साम्य दिखला कर उन्हे निकट लाने का यथेष्ट प्रयास किया गया। हिन्दू धर्म ग्रथो की जानकारी के लिए शेख कादरी जैसे कुछ सतो ने सस्कृत की शिक्षा ली थी। शताब्दियो की मान्यता थी कि पीर या शेख अन्य सतो, पैगम्बरों व ईश्वर तक से सीधा सपर्क रखने मे समर्थ है। इस पच

के सूफी भी लौकिक– सुविधाओ से पूर्ण आरामदायक जीवन जीने के आदी थे।

फिरदौसी सिलसिला

इसके सस्थापक बदरुद्दीन व भारत मे इसके नेता शेख हुसैन बल्खी थे। परन्तु यह पथ भारत में ज्यादा दिन भी चल सका। इस्लाम मे सूफी मत का विकास किसी धर्म में होने वाले रहस्यवादी आंदोलन की सफलता तथा लोकप्रियता का महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प इतिहास है। सूफी सहायक को ब्रह्मज्ञानी व आध्यात्मवादी माना जाता रहा है। सफा का अर्थ है पवित्रता या विशुद्धता अर्थात् जो लोग आचार–विचार मे शुद्ध व पवित्र थे वे सूफी कहलाए। एक अन्य मत के अनुसार जो खुदा की साधना मे लीन रहे वो सूफी कहलाता है। सूफीवाद का उद्भव इस्लाम को प्राप्त होने वाली राजनीतिक सफलता का प्रत्यक्ष परिणाम था। सूफीवाद मूलतः दार्शनिक व्यवस्था पर ही टिका था। इस दार्शनिक व्यवस्था के कारण ही सूफीवाद ने इस्लाम की कट्टरता को तिलांजलि देकर रहस्यवाद की आन्तरिक गहराइयों से समझौता कर लिया था। वास्तव मे सूफी दार्शनिक अपने–अपने लक्ष्य के प्रति बेहद सजग थे। उन्हे यह अहसास था कि वे किसी नये धर्म की स्थापना नहीं कर रहे हैं, अपितु एक नवीन आदोलन की भूमिका तैयार कर रहे हैं। जिसके अंतर्गत उन्हें इस्लामी ढांचे को साथ मिलाकर नए प्रकार की आस्था को ही प्रतिष्ठित करना है। अपने लक्ष्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उन्होने कुरान की नए ढग से व्याख्या की तथा ऐसे अनेक आधारों को पाया कि उनके रहस्यवाद को पूरा बल मिला। वास्तव में रहस्यवाद के बीज कुरान

मे ही मौजूद थे। सूफी ईश्वर प्रेम मे निमग्न रहते थे परन्तु वे कर्मकाण्ड के विरोधी थे।

सूफियो द्वारा प्रतिपादित रहस्यवाद एवं प्रेम तत्त्वो की चर्चा से ज्ञात होता है। कि सूफी मत का इस्लाम से अनेक मुद्दों पर गहरा मतभेद है, परन्तु रोचक तथ्य ये है कि सभी– सूफी मुसलमान थे। सैय्यद मुहम्मद हाफिज के अनुसार सूफी सम्प्रदाय के अन्तर्गत चिश्ती भारत का सर्वप्रथम प्राचीन सिलसिला है। वे सूफी मत के मौलिक सिद्धांतों मे विश्वास करते थे। इस पथ के सिद्धांतो का प्रारम्भ होने से, शेख या पीर एवं शिष्य परंपरा तथा खानकाहो की विशेष दिनचर्या निश्चित हो चुकी थी। अनेक सूफी सिद्धातो को विभिन्न रहस्यवादी विचारधाराओ के द्वारा पुष्ट भी किया गया। यद्यपि सूफी आदोलन का भारत में प्रवेश उसकी पूर्ण व्यवस्थापरक स्थिति के स्थापित हो जाने के बाद हुआ था तथापि इस मत ने कट्टर इस्लाम से ज्यादा भारतीय जनता का भी कल्याण किया।

सूफीमत का भक्ति भावना पर प्रभाव –

इतिहासकारों ने समय –समय पर इस प्रश्न को समझना चाहा कि भक्ति आंदोलन पर इस्लाम व सूफी विचारधारा का प्रभाव कहॉ तक पडा। ताराचद्र, युसुफ हुसैन आदि कुछ इतिहासकारों ने इस बात की पुष्टि की है कि शकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानंद की भक्ति–भावना पर इस्लाम संपर्क का गहरा प्रभाव पडा है। लेकिन इसके विरोध मे दूसरे वर्ग के इतिहासकार मानते है इन भिन्न सस्कृतियो का सपर्क इतना निकट तम नही था, कि आध्यात्मिक तौर पर ये एक दूसरे के इतना करीब आते।

सक्षेप मे सूफी सन्तो ने जनता को यही संदेश दिया कि 'मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवार व्यर्थ है, सभी मानव समान है। विभिन्न धर्मो का लक्ष्य साधनो द्वारा एक ही स्थान पर पहुँचना है और वह है प्रभु का साक्षात्कार। सपूर्ण मानव जाति एक है, धर्म व देश के नाम पर लडना कोरी मूर्खता है। हमारे हिदू धर्म के धार्मिक नेताओ व सूफी सतो के द्वारा समन्वय का भरपूर प्रयास किया गया काफी हद तक वे अपने इस लक्ष्य में सफल भी हुए। यद्यपि हिन्दू –मुसलमान की धार्मिक भावना मे कुछ साम्य होते हुए भी मूल रूप से दोनो के धार्मिक आधार बिल्कुल भिन्न थे जिसके कारण दोनों सप्रदायों में जातिगत अन्तर सदैव परिलाक्षित होता है तमाम प्रयासो के बाद भी दोनो कभी–एक न हो सके। जिसका प्रभाव आज के समाज मे स्पष्ट रूप से दिखलाई पडता रहा।

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय

शैक्षिक और साहित्यिक विकास

मध्यकालीन समाज मे हिन्दू व मुस्लिम शिक्षा पद्धति भिन्न–भिन्न प्रकार की थी और इनके अध्ययन–अध्यापन के तरीके भी अलग–2 थे। विजय नगर के राजाओ, कश्मीर के शासको और दक्षिण राजपूत नरेशो ने हिन्दू शिक्षण सस्थाओ को आश्रय प्रदान किया। इसके अलावा सल्तनत काल के शासको ने भी शिक्षा संस्थाओ को अपना प्रश्रय दिया। जिसके फलस्वरूप हिन्दू व मुस्लिम शिक्षण पद्धति का मध्य युग मे प्रचार –प्रसार सम्भव हुआ।

हिन्दू शिक्षा पद्धति

मध्य कालीन भारत मे हिन्दू शिक्षा पद्धति मे प्राचीन पद्धति से अधिक अतर नही था प्राथमिक विद्यालय या पाठशालाए मन्दिरो से सलग्न होते थे, जहां प्रारंभिक शिक्षा दी जाती थी, उच्च शिक्षा के लिए 'टोल' या 'चतुष्पदी' थे जिन्हे 'चौपारी' के नाम से भी पुकारा जाता था। देश के विभिन्न भागो मे इस सस्था के नाम भिन्न –भिन्न थे। इन संस्थाओ मे छात्र सस्कृत भाषा, साहित्य, पुराण, वेद, दर्शन शास्त्र, आयुर्विज्ञान, ज्योतिष शास्त्र, खगोल, विद्यादि का अध्ययन करते थे जोनराज ने कश्मीर स्थित शासक 'जैनुल

आब–दीन' के राज्य मे शिक्षा की उत्तम व्यवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके राज्य मे 'शिर्यभट्ट' व 'रूय्यभट्ट' नामक ज्योतिष व चिकित्सा के प्रकाण्ड विद्वान थे।[1] छात्र व अनुसधानकर्ता विद्यार्जन के लिए किसी भी कुशल शिक्षक के पास जाते थे, जो इस कार्य के लिए अनुदान व सहायता प्राप्त कर न केवल विद्यालय का भवन तैयार करते थे वरन छात्रों के निवास व भोजन की व्यवस्था भी करवाते थे। एक विद्यालय मे आठ–दस कमरे व एक वाचनालय होता था।

शिक्षा के उद्देश्य

हिन्दू शिक्षा मूलत धर्म निरपेक्ष थी। इसका मुख्य उद्देश्य चरित्र –निर्माण व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन सस्कृति की रक्षा, धार्मिक व सामाजिक कर्तव्यो के पालन के लिए प्रशिक्षण देना था। प्रत्येक छात्र ब्रह्मचर्य धारण कर सादा जीवन व्यतीत करता था। सयम, अनुशासन और स्वावलबन पर विशेष बल दिया जाता था। छात्रो को अपने सामाजिक जीवन के कर्मो व कर्तव्य पालन हेतु प्रशिक्षित किया जाता था।

हिन्दू शिक्षा के मुख्य केन्द्र

हिन्दू उच्च शिक्षा के मुख्य केन्द्र जिसे हम विश्वविद्यालय की उपाधि भी दे सकते है, उन्ही स्थानो पर स्थित होते थे, जहा प्रसिद्ध विद्वानो का निवास होता था। इसके लिए हिन्दू प्राय तीर्थस्थानो का चुनाव करते थे क्योकि वहा से उन्हे विशेष अनुदान या सहायता प्राप्त होने की अपेक्षा रहती

---

1 द्रष्टव्य –जोनराज कृत राजतरंगीणी (श्लोक 814–815)

थी जिससे शिक्षा व अध्यापन का कार्य सुचारू रूप से चलता था। शिक्षण सस्थाओ के लिए बडे–बडे व्यापारियो और विद्वानो से तथा साथ ही वहा के शासक से यथेष्ट सहायता प्राप्त हो जाती थी।

मध्य काल मे उच्च शिक्षा के मुख्य केन्द्र बनारस, नदिया, मिथिला, प्रयाग, अयोध्या, श्रीनगर, तिरहुत, थट्टा, मुल्तान, कामरूप व सरहिद थे।

बनारस

बनारस उच्च शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, देश के विभिन्न भागों से विद्वान यहां आते थे ओर यहा के शिक्षण सस्थाओ से सबद्ध होकर शिक्षा के क्षेत्र मे अपना सहयोग प्रदान करते थे। इनमे 'दत्तक मीमांसा' के लेखक नद पडित (1540) और 'परशुराम प्रकाश' के लेखक खडराय कर्नाटक के धर्माधिकारी परिवार से सबंधित थे। ''देवत निर्णय'' व्रतमयक आदि के रचनाकार शंकर भट्ट और ''चिन्तामणि मीमांसा ''शीश विष्णु'' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थो के रचयिता विद्वान् 'गंगा भट्ट' बनारस शिक्षा सस्थान से जुडे थे।

नदिया

इनके अतिरिक्त बंगाल में 'नदिया' जिसका एक प्रसिद्ध नाम 'नवद्वीप' भी है, हिन्दुओ का प्रमुख विद्या केन्द्र था। 'नालन्दा' व 'बौद्ध विश्वविद्यालयो' के विध्वस के बाद इसका महत्व बढ गया था। इसकी तीन शाखाए नवद्वीप, शांतिपुर, गोपालपुर आदि थी। नवद्वीप में शिक्षा व विद्वता का ऊंचा स्तर कायम किया गया। यहा स्मृति, गीता, भागवत ज्ञान व भक्ति की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी, इसके अतिरिक्त विद्वान 'रामरूद निधि' ने

खगोल विद्या की शिक्षा भी आरभ की।

मिथिला

उत्तर –बिहार मे स्थित मिथिला भी सुप्रसिद्ध विद्या केन्द्र रहा है। इसका महत्व पूरे मध्ययुग मे बना रहा। देश के सभी भागो से छात्र यहां तर्क शास्त्र की शिक्षा के लिए आते थे।

अन्य विद्या केन्द्र

अन्य हिन्दू विद्या केन्द्रों मे मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, अयोध्या श्रीनगर व सुल्तान आदि थे। काश्मीर (श्रीनगर) मे कई ब्राह्मण संस्कृत–दर्शन का अध्ययन–अध्यापन करते थे। इनमे रामानन्द भी प्रमुख थे जो अपने देश भ्रमण के दौरान काश्मीर शासक ' जैनुल– आब–दीन ' के राज्य मे गए जहां राजा ने उनका यथोचित सम्मान किया। [1] साकी ने अपनी पुस्तक 'मासीर–ए–आलमगीरी' मे मुल्तान को हिन्दू विद्या का केन्द्र कहा है। इस नगर मे समूचे भारत से छात्रगण आते थे। यहां खगोल विद्या, ज्योतिष शास्त्र, गणित, आयुर्विज्ञान जैसे विषयों पर अध्ययन–अध्यापन होता था। यह चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था यहां से सम्पूर्ण देश मे चिकित्सक बनाकर भेजे जाते थे।

मध्यकालीन युग में "मदुरा" दक्षिण का प्रमुख विद्या केन्द्र था। दक्षिण के अन्य हिन्दू विद्या केन्द्रों में चित्रलपुर मे कांचीपुरम, अधपालम, वेतूर, विरनिसी पुरम और उत्तरी आर्किट मे वपु उल्लेखनीय है। केरल मे राजाश्रय प्राप्त कलारी (सैनिक विद्यालय) स्थित था। आसाम मे कामरूप भी विद्या का प्रमुख केन्द्र था। इन विश्वविद्यालयो मे गूढ विषयो पर तर्क व

---

1. जोनराज कृत राजतरंगणी (श्लोक 828)

सामाजिक विषयो का अध्ययन अध्यापन होता था।

मुस्लिम शिक्षा पद्धति और उद्देश्य

दिल्ली मे सल्तनत शासन की स्थापना के पूर्व ही मुसलमानों ने शिक्षा की इस्लामी पद्धति का विकास किया। वे संस्थाए जहा प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जाती थी 'मकतब' के नाम से प्रसिद्ध है। ये मकतब प्राय मस्जिद से संलग्न होते थे।

मुस्लिम शिक्षा धार्मिक प्रकार की थी।इसका मुख्य उद्देश्य इस्लामी सिद्धात और दर्शन की जानकारी कर इस्लाम का प्रचार– प्रसार करना व उसमे आस्था उत्पन्न करना था। शिक्षा के दौरान अनुशासन और चरित्र निर्माण पर भी बल दिया जाता था। इस्लामी शिक्षा में कुरान की शिक्षा अत्यंत आवश्यक थी। प्रत्येक बच्चे को कुरान कठस्थ करना पडता था। अरबी फारसी की शिक्षा भी अनिवार्य थी।

मुस्लिम शिक्षा के मुख्य केन्द्र

मुस्लिमो मे उच्च शिक्षा के लिए मदरसों की स्थापना की गई। ये प्राय. मस्जिद के करीब होते थे। सल्तनत काल मे इस्लामी शिक्षा के मुख्य केन्द्र सभवत. देश के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्रों मे स्थित थे, क्योंकि इस भाग पर ही मुसलमानों का पूर्ण आधिपत्य था। मुगलों के आगमन तथा साम्राज्य विस्तार के साथ ही शैक्षणिक क्रिया–कलाप भी बढे। दिल्ली, आगरा व जौनपुर मे शिक्षा केन्द्र स्थापित हुए।

आगरा

शिक्षा के केन्द्र के रूप मे आगरा का स्थान महत्वपूर्ण रहा। वहा अकबर ने एक बडा कालेज खोला और शिराज से विद्वानो को अध्यापन के लिए बुलाया।

दिल्ली

दिल्ली भी शिक्षा सस्थानो की स्थापना मे आगे रही, वहा उच्च्च कोटि के शिक्षण की व्यवस्था थी इस क्षेत्र मे दिल्ली ने अपनी परपरा कायम रखी और वह इन सस्थानों का केन्द्र बिन्दु बन गई।

जौनपुर व गुजरात

गुजरात व जौनपुर भारत मे दो अन्य मुख्य मुस्लिम शिक्षा केन्द्र थे। जौनपुर को "भारत का सिराज" कहा जाता था। इब्राहिम शरकी (1401—40) के समय मे इसका महत्व बहुत बढ गया था। शिक्षा के अन्य विख्यात केन्द्रो मे फतेहपुर सीकरी, बयाना, लखनऊ, ग्वालियर, थानेश्वर, सरहिद, थट्टा, नारनौल और सभल उल्लेखनीय है।

उस समय की शिक्षा मे न्यायशास्त्र धर्मशास्त्र पैगम्बरो का परिचय, व्याकरण, शब्द विज्ञान, साहित्य और आयुर्विज्ञान जैसे पारपरिक विषयो पर विशेष बल दिया जाता था। इनके अतिरिक्त गणित और खगोल विद्या भी अध्ययन के विषय थे।

साहित्यक विकास

यथार्थ के धरातल पर साहित्य की भूमिका इतिहास की भाति ही व्यापक होती है इतिहासकार के रूप मे जब हम किसी युग के साहित्य का

मूल्याकन करते है तो हमारा मुख्य मापदड यही होता है कि वह यथार्थ के साथ कितना जुडा है। इस मान्यता के पीछे ये कारण है कि साहित्य केवल सामाजिक मूल्यो को ही ग्रहण नही करता, अपितु उसका सबध अतीत की यथार्थ परिस्थितियो व घटनाओ से भी होता है। यदि साहित्य की इतनी व्यापक भूमिका न होती तो हमे प्राचीन व मध्यकालीन इतिहास की जानकारी मे अत्यत कठिनाई का सामना करना पडता। समकालीन समाज, धर्म एव सस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से साहित्य इतिहास रचना मे बहुमुखी भूमिका का निर्वाह करता है।

संस्कृत–साहित्य

मध्यकालीन साहित्य मं सस्कृत की महत्ता तथा इसकी ग्रहण क्षमता प्रायः समाप्त हो चुकी थी। सस्कृत साहित्य के महान कवियो तथा सर्जनात्मक लेखन का युग बीत गया था और उसका ह्रास आरम्भ हो चुका था। इसके विषय अरुचि कर और प्रवृत्ति रूढिवादी हो गई थी। सृजनात्मक चितन के स्थान पर अतिशयोक्ति पूर्व विवरण पर अधिक जोर दिया जाने लगा। विदेशी शासन और सरक्षण के अभाव मे यह अधिक उपेक्षित हो गया।

इन बाधाओं के बावजूद भी इस युग में संस्कृत की विभिन्न शाखाओ मे साहित्य का सृजन हुआ । सस्कृत साहित्य को हिन्दू शासकों, मुख्यतया विजयनगर वारंगल और गुजरात के शासको का सरक्षण प्राप्त हुआ। सस्कृत मे काव्य, नाटक, दर्शन टीकाएं आदि सभी कुछ लिखा गया, रचनाओ की दृष्टि से कृतियो का अभाव न रहा। सस्कृत साहित्य की स्थिति कमोवेश पूर्ववतही रही। रचनाएं लिखी जाती रही। इस काल में बहुत रचनाए

रची गई, किन्तु सभी दोहराई गयी। मौलिक रचनाओ का अभाव था। उदाहरण के तौर पर 'कल्हण' कृत राजतरगिणी के बाद 'जोनराज' व 'श्रीवर' ने दूसरी व तीसरी राजतरगिणी की रचना की। इसी क्रम मे 'प्राज्य भट्ट' प्रणीत 'राज्यावलिपताका' भी उल्लेखनीय है। स्मृति ग्रन्थो के प्रति–पाद्य को ही लेशमात्र परिवर्तनो के साथ " पराशर– माधव ", मदन पारिजात, व्यवहार काण्ड, व्यवहार विवेकोघोत, व्यवहार सार आदि कृतियो मे प्रस्तुत किया गया।

ज्यादातर रचनाएं सम्प्रदाय से प्रेरित थी और साधारण जन के लिए न होकर शिक्षितों के लिए ही थी। सस्कृत साहित्य पर बगाल व उडीसा के चैतन्य आंदोलन का प्रभाव पडा। राजाओं से प्रश्रय प्राप्त विद्वानो ने विविध शाखाओ में अपने साहित्य की रचना की। नाटककारों व कवियो की विषयवस्तु का उद्गम स्रोत राम–कृष्ण व पौराणिक नायको की कथाएं बनीं।

उस समय के संस्कृत साहित्य की रचनाएं स्मृति महाकाव्य ऐतिहासिक महाकाव्य, दूतकाव्य, नाटक, गद्य, चम्पू, दार्शनिक और धार्मिक काव्य शास्त्र अंतरिक्ष विज्ञान, ज्योतिष, तकनीकी साहित्य, औषधि शास्त्र, सगीत, छन्द, शास्त्र इत्यादि विविध विधाओ मे लिखी गई।

महाकाव्य

कवि मल्ल ने जिन्हें 'मल्लाचार्य' या 'शाकल्यमल्ल' के नाम से भी जाना जाता है 'उदार राघव' नामक महाकाव्य की रचना की। इसमे रामायण की कथा वस्तु को कृत्रिमता पूर्ण शैली मे प्रस्तुत किया गया है। वारगल नरेश प्रतापरूद्रदेव के दरबारी कवि अगस्त्य ने अनेकानेक कृतियो का प्रणयन किया

जिनमे प्रतापरूद, यशोभूषण, कृष्ण चरित, बाल भारत आदि प्रमुख महाकाव्य है। बाल भारत मे महाभारत की कथा 20 सर्गो मे निबद्ध है। 'गद्य कर्णामृत' के लेखक विद्याचक्र वर्तीन विद्वानो के वंशज थे। होयसल नरेश बल्लाल तृतीय के सरक्षण मे रहने वाले इस कवि ने रुक्मिणी के विवाह को आधार बनाकर इस कथा को सोलह सर्गो मे लिखा। विजयनगर के राजा विरुपाक्ष के दरबारी कवि माधव ने 'नरकासुर' नामक महाकाव्य रचा। 'वरदाग्निचित्' के पौत्र 'कुमतियज्वा' के पुत्र वामन भट्ट बाण वैविध्यपूर्ण प्रतिभा के धनी थे। इनकी बहुज्ञता के कारण उन्हे षडभाषावल्लभ और कविसार्वभौम की उपाधियो से विभूषित किया गया। उन्होंने आठ सर्गो मे नलाम्युदय और तीन सर्गो में 'रघुनाथचरित' नल और राम को नायक बनाकर लिखा। लोलिम्ब राज का हरिविलास कृष्ण के जीवन चरित्र का वर्णन करता है। 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' नामक महाकाव्य में 'कवि विद्यापति' ने एक हजार पदो मे दुर्गा महोत्सव का वर्णन किया है लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचंद्र ने (1524) अयोध्या मे 'रसिक रंजन' नामक महाकाव्य लिखा जो सौन्दर्य, शास्त्र व कामानुभूति पर आधारित थी। यह द्विसंधान काव्य है और इसी तरह की कृति में 'राघव–पांडव यादवीय' भी है। 'चिदम्बरा' की इस कृति मे रामायण, महाभारत व भागवत की कथा को एक साथ बताया गया है। 'साल्व नरसिह' को चौबीस सर्गो वाले 'रामाभ्युदय महाकाव्य' का रचयिता कहा जाता है। महान दार्शनिक शकराचार्य के जीवन वृत पर आधारित कृति है, 'विद्यारण्य' कृत 'शंकर– विजय'। विजयनगर कृष्णदेवराय के दरबारी कवि दिवाकर ने महाभारत की कथाओ को आधार बना कर लिखे गए, 'परिजात हरण',

'देवी–स्तुति', 'रसमजरी', 'भारतामृत' आदि ग्रन्थो का प्रणयन किया। बारह सर्गो मे 'नेमिनाथ' के जीवन वृत का वर्णन करने वाले 'नेमिनाथ महाकाव्य' की रचना 'कीर्तिराज' ने की। जबकि श्रेणिका के 'जीवनवृत्त' को जिनप्रभा ने 'दायाश्रय' काव्य मे दर्शाया। सोम कीर्ति ने 'सप्तव्यासन चरित' और 'यशोधरा चरित' महाकाव्य लिखे। कालीकट के राजा मानव विक्रम के दरबारी कवि 'वासुदेव' ने 'वासुदेव विजय' नामक महाकाव्य लिखा जो पाणिनि के व्याकरण के सूत्रो की व्याख्या करता है। चतुर्भुजा का 'हर्षचरित' काव्य भगवान कृष्ण की क्रिया कलापों पर आधारित है।

जोनराज के शिष्य श्रीवर ने फारसी के कविजामी के युसुफ वु जुलेखा की कथा वस्तु को आधार बनाकर पद्रह सर्गो का 'कथा–कौतुक' नामक महाकाव्य लिखा। फारसी साहित्य के प्रयोग का सभवतः यह प्रथम उदाहरण ही मूलत. हिब्रू भाषा मे लिखी गयी। यह कथा कश्मीर के 'मुहम्मद–शाह' की यशोगाथा है। फारसी प्रेमगाथा को शैवधर्म के साथ मिश्रित करके प्रस्तुत किया गया। अन्तिम सर्ग में भगवान शिव की प्रशंसा ही प्रशंसा है।

ऐतिहासिक काव्य

जोनराज के शिष्य श्रीवर ने द्वितीय राजतरगिणी की रचना की। इस ग्रंथ में कल्हण व जोनराज की परम्परा में पुरातन राजवंशों से लेकर जैनुल–आव–दीन (1120–70) तक के राजवंशों के अभ्युदय का चित्रण है। जोनराज इस ऐतिहासिक महाकाव्य को, अपने संरक्षक जैनुल –आब–दीन के शासन के 35 वें वर्ष में ही दिवंगत हो जाने के

कारण पूर्ण नही कर पाए अत राजतरगिणी अथवा तृतीय राजतरगिणी को श्रीवर ने पूर्ण किया। राजतरगिणी मे 1459–86 तक के इतिहास का वर्णन है। राज्यावलिपताका प्राज्यभट्ट के द्वारा शुरू की गई व उनके शिष्य ने इसे पूर्ण किया इसमे काश्मीर के (1487) के इतिहास से लेकर अकबर के समय तक (1586) तक का वर्णन है। जैन साहित्यकार 'जयचन्द्र' के द्वारा 'हम्मीर काव्य' की रचना की गई जिसमे चौहान शासको के इतिहास का वर्णन है। गुजरात के इतिहास पर विचारणीय व महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गुरुगुणरत्नाकर' है जो सोमचरित्रगणी द्वारा विरचित है। कवि सर्वानंद द्वारा रचित जगदूचरितम भी इसी युग मे लिखी गई।

पट्टुभट्ट या पोतराय ने अपने 'प्रसग रत्नावलि' मे राजा विक्रमादित्य तृतीय से लेकर नरेश भूपति का वर्णन किया है।[1] विजय नगर की स्थापना से लेकर अपने समय तक समस्त राजाओ का विवरण कवि विद्यारण्य ने 'राज काल–निर्णय' नामक काव्य मे प्रस्तुत किया। साल्वनरसिह और उनके पूर्वजो की उपलब्धियो का वर्णन राजनाथ द्वितीय कृत 'साल्वाभ्युदय' में प्राप्त होता है।

लघु काव्य

बहुशास्त्रज्ञ व्यकटनाथ या वेदान्त देशिक ने अनेक स्त्रोत ग्रन्थों की रचना की। जयदेव के गीत गोविन्द की शैली में भानुदत्त ने 'गौरीश' नामक स्तोत्र लिखा। इस शैली मे पुरुषोत्तमदेव ने 'अभिनव गीत गोविन्द' की

---

1 जार्नल आफ दि युनिवर्सिटी आफ बाम्बे (Sep-1940)(पृष्ठ– 101–115)

रचना की। काश्मीर के रत्नधारा के पुत्र 'जगदूधारा' ने 38 पद्यो मे भगवान शिव की स्तुति मे कुसुमाजलि नामक स्तोत्र ग्रथ लिखा। भावुकता पूर्ण भक्ति की अभिव्यक्ति निमाई जो बाद मे चलकर गौराग व चैतन्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, की कविताओ मे मिलती है। 'स्तौमाला' 'रूपगोस्वामी' के साठ स्त्रोतों व गीतो का अनुपम सग्रह है इस सग्रह को प्रस्तुत करने का श्रेय 'जीव गोस्वामी' को जाता है। रूप गोस्वामी चैतन्य के साक्षात शिष्य थे। भक्तिपरक स्तोत्रों मे 'जिन प्रभासूर्य' कृत 'चतुर्विंशति जिन स्तुति' और अन्य भजन सग्रहीत है। मुनि सुन्दर सूर की 'जिन स्तोंत्र', 'रत्नकोश' भी प्रमुख भक्तिपरक ग्रंथ हैं।

उपदेशात्मक काव्य

धनद्राज ने भतृहरि की शैली मे 1434 में श्रृगार नीति और वैराग्य पर तीन शतक लिखे। व्यकटनाथ ने सुभाषित– नीवी नामक उपदेशात्मक काव्य लिखा, इसमें विविध छन्दों मे निबद्ध एक सौ चौवालीस पद्य है। बारह–बारह पद्यो को बारह पद्धतियो मे विभाजित किया गया है। इसमे अहकार, नीचता, दासता, आदर्श, शाति इत्यादि विभाग प्रमुख है। दयाद्विवेदकृत नीति मजरी में 200 पद्य है इसमे सायण के ऋग्वेदभाष्य की कथाओ में प्रयुक्त कहावतो का वर्णन है। 'चरित सुन्दर गणिकृत' 'शिलादूत' अपने नाम के दूत काव्य जैसा लगने पर भी दूत काव्य नही है। बल्कि यह स्थूलभद्र की कथा पर आधारित एक उपदेश काव्य है। इसे समस्या पूर्ति शैली मे लिखा गया है।

रति सम्बन्धी एव सन्देश काव्य

'मदन कवि' कृत 'कृष्ण लीला' मे कृष्ण गोपी वियोग 84 पद्यो मे वर्णित है। यमकालकार युक्त समस्यापूरण शैली मे यह वर्णन उपलब्ध है।

वेकट नाथ अथवा वेदान्तदेशिक ने 'मेघदूत' की परिपाटी मे 'हस सदेश काव्य' लिखा। वेकटनाथ के पुत्र वरद या नयनाचार्य ने 'कोकिला सन्देश' और 'शुक सन्देश' नाम के दूतकाव्यो की रचना की। राजा मानविक्रम के दरबारी कवि उद्‌दंड ने 'कोकिला सन्देश' नाम से दूसरे दूतकाव्य की रचना की। यह मानविक्रम के दूसरे दरबार कवि वासुदेव के भृंग सदेश या 'भ्रमरसन्देश' के उत्तर रूप में है। 'वामन भट्‌ट वाण' की भी एक कृति 'हस सन्देश' नाम से लिखी गयी है। चैतन्य के मामा 'विष्णुदास' ने मनोदूत काव्य की रचना की। इसमें मन को कृष्ण के प्रति प्रार्थना दूत के रूप में प्रस्तुत करते हुए वृन्दावन का वर्णन है। रूपगोस्वामी ने 'हस दूत' और 'उद्‌घवदूत काम' लिखे। मेरुतुंगाचार्य के 'मेघदूत' के चार सर्गो मे नेमिदेव का जीवनवृत्त वर्णित है।

काव्य सग्रह

इस युग मे कुछ महत्वपूर्ण सग्रह ग्रन्थ रचे गये। दामोदर के पुत्र शागधर ने 1363 ई0 मे 4689 पद्यो ओर 163 अनुभागो में शागधर पद्धति नामक ग्रन्थ लिखा। सूर्यकालिगराज कृत शुक्ति रत्नाकर में दाक्षिणात्य रचनाकारो की कृतियो का सचय है।

परिचयात्मिका पद्धतियों के अनन्तर इसके उद्धहरण चार पद्धतियों

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे निबद्ध है। सायण की सुभाषित सुधानिधि के अन्तर्गत 84 पद्धतियो मे उनके कुटुम्ब का विवरण है वेदान्त देशिक का सुभाषितनीवी भी इस सन्दर्भ मे उल्लेख्य है। 380 कवियों के विवरण से युक्त सुभाषितावली श्रीवर की कृति है। रूपगोस्वामी की पद्यों मे 25 कवियो का परिचय प्रस्तुत है। सभी पद्य कृष्ण और कृष्णलीला के भक्ति पर आधारित है।

कवयित्रियॉ

इस युग की कवयित्रियो मे वीरकम्पनया कम्पराय की रानी गगादेवी का स्थान महत्वपूर्ण है। इन्होंने मदुरा के मुस्लिम मुखिया तथा काज्ची नरेश चम्पा पर अपने पति की विजय अभियान का वर्णन की अपनी कृतियो 'मदुरा विजयम्' और 'वीरकम्पराय चरितम्' मे किया है। राजनाथ प्रथम की पत्नी अभिराम कामाक्षी ने 'अभिनवरामाभ्युदय' नामक महाकाव्य लिखा। इसमे राम कथा 24 सर्गों में वर्णित है। वरदाम्बिका और विजय नगर के अच्युत राय की प्रेमगाथा और विवाह को वर्णन को तिरुमलाम्बा ने 'वरदाम्बिका परिणय चम्पू' में प्रयुक्त किया है।

नाटक

कथावस्तु पर आधारित नाटक 1 पौराणिक संगमवश के हरिहर द्वितीय के पुत्र बिरुपाक्ष ने पाच अको मे नारायण– विलास के "उन्मत्तराघव" सहाय नामक एकांकी नाटक लिखे। उन्मत्तराघव नाम से भास्कर ने भी दूसरा एकाकी ग्रन्थ लिखा जो प्रेक्षानक कहलाता है। वामन भट्टवाण कृत पार्वती

परिणय कुमारसम्भव का नाटक रूपातर है। इनकी दूसरी कृति कनक लेखा है। इसमे वीरवर्मन की पुत्री के व्यास वर्मन से विवाह का वर्णन है। जीवराम ने कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की नाट्यात्मक प्रस्तुति अपनी कृति मुरारि विजयन मे की है। स्यमन्तकमणि प्रप्ति हेतु जामवन्त से युद्ध की कथा पर आधारित नाटक जाम्बवन्ती–परिणय कृष्णदेवराय ने लिखा। कृष्णदेवराय कृत ऊषारागोदय अनिरुद्ध–ऊषावृन्तान्त पर आधारित है। सौगन्धिकहरण एकाकी विश्वनाथ कृत एक व्यायोग है। इसमे सौगन्धिक पुष्प लाने के लिये जाते हुए भीम की हनुमान जी से भेंट का वर्णन है। नारायण के पुत्र कंचनाचार्य की रचना धनजय– विजय– व्यायोग अर्जुन की दुर्योधन व कौरवो पर पशुहरण के समय की गई विजय का वर्णन है। वीरभद्रविजय अरुण गिरि नाथ द्वितीय की रचना है। इसमे वीरभट्ट की उत्पत्ति व दक्ष के यज्ञ विध्वंस का वर्णन है।

अर्ध ऐतिहासिक नाटक

काकतीय नरेश प्रतापरुद्र के यश का वर्णन विद्यानाथ ने 'प्रताप रुद्र कल्याण' नाटक मे किया है। 'गंगाधर कृत गंगादास विलास' नौ अको की रचना' है। गंगादास प्रताप रुद्रदेव का कवि गगाधर के संरक्षक मुहम्मद शाह द्वितीय (गुजरात 1443–51) के साथ युद्ध का वर्णन है।

रूपकात्मक नाटक

व्यकटनाथ अथवा वेदान्त देशिक ने प्रबोध चन्द्रोदय की शैली मे रूपकात्मक नाटक 'सकल्प सूर्योदय' की रचना की। यह 'प्रबोध चन्द्रोदय' का

उत्तर स्वरूप है। इसमे विशिष्टा द्वैत दर्शन का प्रतिपादन है। वरदाचार्य या अम्लाचार्य ने 'वेदान्त विलास' अथवा यतिराज विजय की रचना की। इसके 6 अको मे रामानुज के विजय अभियान का वर्णन है। हरिहरकृत 'भर्तृहरि निर्वेद' अपने पत्नी की मृत्यु से दुखी भर्तृहरि की दशा का वर्णन है।

भक्ति परक नाटक

विदग्धमाधव (सात अको) ललित माधव (दस अंक) और दानकेलि चद्रिका (माणिक) रूप गोस्वामी की कृतिया है। भक्तिपरक नाटको मे रामानन्दराय के 'जगन्नाथ वल्लभ' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उपर्युक्त तीन नाटको में भावनापूर्ण भक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष का वर्णन है।

प्रहसन

मिथिला के करनाट वश के शासक हरसिंहदेव[1] (1320 ई0) के दरबारी और रामेश्वर के पुत्र ज्योतिरीश्वर कवि शेखर ने 'धूर्तसमागम' नामक प्रहसन लिखा। "सोमवल्ली योगानन्द" नामक प्रहसन अरुण गिरि प्रथम ने परिहासात्मक शैली मे लिखा। जगदीश्वर के 'हास्यार्णव' और गोपीनाथ चक्रवर्ती के कौतुक सर्वस्व भी उल्लेखनीय हे। इसमे कलिवत्सल नामक एक राजा का वर्णन है जो सबको स्वतंत्र प्रेम की अनुमति देता है और ब्राह्मणों को राज्य से निकाल देता है।

वामन भट्ट बाण की भाण कृति 'श्रृगार भूषण', वरदाचार्य कृत 'वसन्त तिलक' अथवा हम्माल भाण और रामभट्ट के श्रृगार तिलक अथवा

1. Gode, SILH- 1378

'अय्याभाण' आदि प्रमुख प्रहसनग्रथ है।

सामाजिक नाटक और दरबारी परिहास

कपि उद्दड कृत 'मल्लिकामृत' मध्य वर्गीय सामाजिक जीवन को दर्शाने वाला दस अको का प्रकरण ग्रथ है। कादम्बरी की कथा को आठ अकों मे नाट्य रूपातरित कर कवि नरसिह के कादबरी कल्याण नाटक लिखा। इसकी मुख्य विशेषता पचम अंक में आई एक अन्तर नाटिका है जो कादम्बरी को चन्द्रापीड के सम्मुख उपस्थित करती है। सत्कोप कृत 'वासन्तिका–परिणय' आहोविल नरसिह का वन सुन्दरी वासन्तिका से विवाह वर्णन है। राजवर्धन के पुत्र और नटेश्वर के शिष्य नेपाल के माणिक ने 'भैरवानन्द' नामक धर्म– निर्पेक्ष नाटक लिखा।

फुटकलनाटक

पन्द्रहवी शताब्दी के व्यासश्री रामदेव, जो जयपुर के कलचुरि राजाओ के आश्रित थे, ने 'सुभद्रा– परिणय', रामाभ्युदय, पांडवाभ्युदय आदि नाटको की रचना की।

गद्य साहित्य

प्रसिद्ध कथाओ पर आधारित गद्य कथाए बृहत्कथा के बाद वेताल–पचविशति पुरातन गद्य कृति है। क्षेमेन्द्र सोमदेव के वृहत्कथा के कश्मीरी रूपान्तर मे भी इसका उल्लेख है। साहित्यिक सौन्दर्य के आधार पर शिवदास का 1487 का रूपान्तर साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारत का 'द्वात्रिशिका' अज्ञात कवि की बत्तीस कहानियो वाली रचना है।

शिवदास के कथार्णव मे मूर्खों व धूर्तों की कहानिया है, मिथिला के शिवसिह के शासन मे विद्यापति ने पचतत्र की शैली मे नैतिक और राजनीतिक कथाए बच्चो के लिए लिखी। बलराम की पृथ्वी परिक्रमा का वर्णन विद्यापति की भूपरिक्रमा मे मिलता है।

उपदेशात्मक गद्य

'चम्पक श्रेष्ठि कथानक' मे तीन कहानियां है जिनमें भाग्य से लडने का रावण का असफल प्रयास वर्णित है। 'जिन कीर्ति' कृत 'पाल–गोपाल' कथानक एक काल्पनिक कथा है, 'सम्यक्–कौमुदी इत्त्यादि उपदेशात्मक रचनाएं है। तपागच्छ के रत्नशेखर के शिष्य सोमचन्द्र ने 1448 ई0 में एक सौ छब्बीस जैन कथाओ वाले कथा 'महोद्धिधि' ग्रथ की रचना की।

गद्यात्मक प्रेम कथा

इस युग के गद्यात्मक प्रेमाख्यानों में मौलिकता का अभाव है। वे बाणभट्ट और सुबन्धु की प्रतिकृति मात्र है। वाणभट्ट के हर्षचरित की पूरी नकल कर के वेमभूपाल चरित की रचना हुयी। अगस्त्य के कृष्णचरित में भगवतगीता के आधार पर कृष्ण के जीवन को प्रस्तुत किया गया है। मेरूतुगाचार्य ने महान पुरुष चरित मे जैन सन्यासियो का विवरण प्रस्तुत किया है। चरित सुन्दर कृते महिपाल चरित एक काल्पनिक कथा है विद्या चक्रवर्ती के गद्य 'कर्णामृत' मे (1234 ई0) होयरूल नरेश नरसिह द्वितीय के पांडय, मगध व चोलो की सम्मिलित सेनाओ के साथ युद्ध का वर्णन है।

चम्पू

रचना की चम्पू पद्धति दक्षिण भारत मे बहुत प्रसिद्ध थी। दक्षिणावत्य के राजा श्रीविनास के प्रेमाख्यान का वर्णन करते हुए व्यकटाध्वरीन्दु अथवा व्यकटेश ने श्री निवास विलास चम्पू नामक ग्रथ लिखा। दो उच्छवासो मे लिखा गया ग्रथ बाणभट्ट की प्रतिकृति प्रतीत होता है। 1500 ई0 मे अनन्त भट्ट ने महाभारत की कथा को बारह स्तवको मे विभक्त कर भारत कर भारत चम्पू की रचना की। इनके भतीजे सोमनाथ ने व्यास राय के जीवन को आधार बना कर व्यास योगा चरित चम्पू की रचना की। शेषकृष्ण कृत 'पारिजात हरण चम्पू', 'चिदम्बराकृत', 'भागवत् चम्पू' और 'पंच कल्याण चम्पू' तिरुमलाम्बा, कृत 'वरदाम्बिका परिणय चम्पू', विरुपाक्ष कृत 'चोल चम्पू' जीव गोस्वामी का गोपाल चम्पू, परमानन्द दास सेन कवि कर्णपूर कृत आनन्दवृदावन चम्पू इत्यादि ग्रन्थ भी चम्पू साहित्य की श्री वृद्धि करते है।

प्रबन्ध

बल्लाल सेन कृत 'भोज प्रबन्ध' मे भोज के दरबार की अनधिकृत कहानियों वर्णित है। 'मेरुतुग' कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' पांच प्रकाशो मे सन् 1306 ई0 मे लिखा गया। इसकी कथा विक्रमादित्य व सालिवाहन से प्रारम्भ होकर के लक्ष्मणसेन, उमापति, भतृहरि इत्यादि तक के वृतान्त को समाहित करती है। राजशेखर का प्रबन्ध कोष ,चौबीस प्रबन्धो मे विभक्त है। इसकी रचना 1348 में हुई।

धार्मिक एवं दर्शानिक साहित्य

1 पुराण व उपपुराण

कुछ लघुकाय पुराणो मे इस युग मे प्रक्षिप्त अश जोड दिए गए है, जिनमे वाराह, पद्म, ब्रह्म, स्कन्द, ब्रह्मवैवर्त और भविष्य पुराण प्रमुख है। श्रीधर स्वामी ने भागवत की प्रसिद्ध टीका ' भागवत –भावार्थ टीका लिखी। सौर, शाम्ब और देवी पुराणो मे भी कुछ 'क्षेपक' जुडा। बगाल के विद्वानो ने ब्रह्म वैवर्त व देवी भागवत मे कुछ अश अपनी तरफ से जोड दिया।

2 धर्म शास्त्र

इस युग मे धर्म शास्त्र पर कोई नवीनकृति नही (जिसमें नये विचार समाहित हो) लिखी गई। स्मृति के सिद्धातो को ही इसमे थोडे बहुत परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत किया गया है। उनका सविस्तार उल्लेख इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय मे पृष्ठ 83 पर किया गया है।

3. दर्शन

'सायण' के भाई माधव ने 'सर्व दर्शन सग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमे चार्वाक, बौद्ध, जैन, चार शैव सम्प्रदाय, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, वैशेषिक, न्यायपूर्वमीमासा, व्याकरणसम्प्रदाय, साख्य, योग और अन्त में वेदान्त विषयों का वर्णन किया गया है। मीमासा के सिद्धातो को माधव ने 'जैमिनीय–न्याय–माला विस्तार' ग्रन्थ मे प्रतिपादित किया। माधव के पहले पार्थसारथि मिश्रा ने 'भाट्ट मीमासा' के सिद्धांतो को अपनी अनेक कृतियो मे निबद्ध किया है। जिनमे कुमारिल भट्ट के 'श्लोक कार्तिक' की टीका 'न्यायरत्नाकर',

'शास्त्रदीपिका' और 'तन्त्र–रत्न' प्रसिद्ध है। 1400 ई0 के सोमेश्वर ने कुमारिल के 'तन्त्र वार्तिक' पर 'न्यायसुधा या 'राणक' टीका लिखी।

माधव ने वेदान्त मे जीवन मुक्ति विवेक और पचदशी की रचना की। 15 वी शताब्दी मे अद्वैतानन्द ने 'ब्रहसूत्रशाडक्रभाष्य' पर 'ब्रह्मविद्याभरण' नामक टीका लिखी। इनके शिष्य सदानन्द योगीन्द्र ने वेदान्त दर्शन मे प्रवेशार्थ उपयोगी ग्रन्थ वेदान्तसार नामक कृति रची।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्रो पर अपना 'अणुभाष्य' लिखा जो शुद्धाद्वैतसिद्धात का प्रतिपादन करता है। उनके अनुसार भक्ति साधन और साध्य दोनो है। यह भक्ति ईश्वर कृपा से ही प्राप्त है।

कपिल का 'साख्यप्रवचन' सूत्र 14 वी शताब्दी की कृति है। क्योकि 'सर्वदर्शन–संग्रह' साख्य कारिकाओ को ही आधार बनाता है। इस प्रवचन–सूत्र की चर्चा नही करता। विज्ञान भिक्षु ने 'साख्य प्रवचन भाष्य' में साख्य और वेदान्त के अन्तर को कम करने का प्रयास किया। उनके अनुसार साख्य ही मौलिक वेदान्त है। जबकि अद्वैतवेदान्त इसका आधुनिक मिथ्याकरण है। विज्ञान भिक्षु के अन्यग्रन्थ है– सांख्यसार, योगवार्तिका, 'योगसारसंग्रह' और ब्रह्मसूत्रो पर 'विज्ञानामृतभाष्य'।

उडीसा नरेश गजपति प्रतापरुद्र के राजगुरु और मत्री गोदावर मिश्र ने पतजलि, व्यास, वाचस्पति, मिश्र और भोज के सिद्धांतो और अभ्यासो का सार संक्षेप भूत 'योगचिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा। [1]

वासुदेव सार्वभौमकृत गणेश की 'तत्त्वचिन्तामणि' पर लिखी गयी 'तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या' नवद्वीप सम्प्रदाय की प्रथम महीयसी कृति है। सार्वभौमिक

---

1. Gode, PO IX. 11-19

वासुदेव चैतन्य, रघुनाथ, रघुनन्दन और कृष्णानन्द के गुरू थे। लौगाक्षिभास्करकृत 'तर्ककौमुदी'और शकरमिश्रकृत 'उपस्कार' भी महत्वपूर्ण कृतिया है।

वेदान्त देशिक एक बहुज्ञ विद्वान और लेखक थे। उनकी कृतियो मे 'सेश्वरमीमांसा', 'न्यायसिद्धान्त', 'तत्त्वमुक्ताकलाप', 'तत्त्वटीका' और तात्पर्यचन्द्रिका प्रमुख है।

तकनीकी और वैज्ञानिक साहित्य

1 व्याकरण

इस युग के अधिकाश ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी पर आघृत है। 1350 मे विमल सरस्वती मे 'रूपमाला' लिखा। 1400 ई0 मे रामचन्द्र ने पाणिनीय व्याकरण को 'प्रक्रिया –कौमुदी' ने पुनर्व्यवस्थित किया जो भट्टोजिदीक्षित की प्रख्यात सिद्धान्त कौमुदी का आधार बनी 'माधवीय धातुवृत्ति' सायण के भाई माधव की श्रेष्ठ रचना है।

हेमचन्द्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत हेमहसविजयाग्नि हेमचन्द्रव्याकरण मे प्रयुक्त 140 परिभाषाओ को संगृहीत किया और 1458 में अहमदाबाद मे उन पर 'न्यायार्थ –मजूषा' नामक टीका लिखी। सन 1409 में देवसुन्दर सूरि के शिष्य गुणरत्नसूरि ने क्रियारत्नसमुच्चय' में सस्कृत धातुओ के रूप सम्बधी विशेषताओं के प्रयोग का वर्णन किया है।

1469–1500 के दौरान मालवा के शासक गयासुद्दीन खिलजी के मत्री पुजराज ने अलकार और ध्वनिप्रदीप पर शिशुप्रबोध टीका लिखी। इसके अतिरिक्त सारस्वत सम्प्रदाय मे अमलासरस्वती के शिष्य अमृतभारतीय कृत 1497 सुबोधिका श्री रगाशिष्य माधवकृत टीका और चन्द्रकीर्ति कृत

दीपिका' टीकादि प्रमुख है।

धर्म को व्याकरण मे प्रस्तुत करने का जो चलन बोपदेव की रचनाओं मे प्रारम्भ हुआ [1] 'हरिनामामृत' तक अपने चरम पर पहुँच गया। रूपगोस्वामी, चैतन्य और जीव गोस्वामी ने पृथक् हरिनामामृत ग्रन्थ लिखे। इसमे राधा और कृष्ण को न केवल उदाहरणो मे प्रत्युत् तकनीकी शब्दों के रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है।

अभयचन्द्राचार्यकृत 'प्रक्रिया –सग्रह', नरपतिमिश्र कृत, 'न्यास –प्रकाश', नन्दनमिश्र कृत, 'न्यासेद्दीपन', तर्काचार्य कृत 'प्रभा' और फक्किकावृत्ति, पुण्डरीकाक्ष विद्यासागरकृत, 'कारककौमुदी' आदि इस युग की प्रमुख व्याकरण रचनाए हैं।

कोशग्रन्थ

सुधाकलश (14 वीं शताब्दी) और मायण के पुत्र सायण ने क्रमशः 'एकाक्षर–नाममाला' और 'एकाक्षर –रत्नमाला' नामक एकाक्षरी कोशो की रचना की। एकाक्षररत्नमाला मे स्वर, व्यजन और सयुक्त नाम से तीन खण्ड है। पद्मनाभदत्त कृत 'भूरिप्रयोग', सुभाशिलाग्नि (15वी शती) विरचित 'पञ्चगर्वनाम सग्रह' तथा 'उणादिनाममाला', महिपालकृत 'शब्दार्थ –रत्नाकर', इरुपम दण्डाधिनाथ या भास्करकृत 'नानार्थमाला', मदनपालकृत 'मदन –विनोद' निघण्टु आदि महत्वपूर्ण कोश–ग्रन्थ इस युग की देन हैं।

काव्य–शास्त्र

विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्र –यशोभूषण' के तीन भाग हैं कारिकाए,

1. HACOIP V, P–320

वृत्ति और प्रयोग या व्याख्या। इसके नवअध्याय –नायक, काव्य, नाटक, रस दोष गुण शब्दालंकार, अर्थालकार और मिश्रालकार– है। विद्यानाथ सामान्य तौर पर मम्मट का अनुसरण करते हैं। किन्तु गुणो मे भोज और अलकारो में रूय्यक को अधिक तरजीह देते है। इन्होने मम्मट के 'काव्य –प्रकाश' मे अप्राप्य परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प अलकारो का वर्णन किया है। 'प्रतापरुद्र –यशोभूषण' पर माल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने 'रत्नापण' टीका लिखी मिथिलावासी गणेश्वर के पुत्र भानुदत्त ने रसतरगिणी और रसमजरी नाम से दो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे। रसतरजिणी में रस के अवयवों का वर्णन आठ तरगों मे किया गया है। रसमंजरी मे नायक–नायिका, सात्विकगुणश्रृगार के दो भेद तथा विप्रलम्भ के दस भेदो की विस्तृत चर्चा है। 1572 में रसमजरी पर गोपाल ने 'विकास' नामक टीका लिखी।

सिहभूपाल के रसार्णवसुधाकर मे तीन विलास है –

1. नायक –नायिका भेद, उद्दीपन–विभव, रीति, गुण, नाटयवृत्तियां इत्यादि
2. व्याभिचारीभाव अनुभाव, स्थायीभाव रसादि
3. नाटक उसके प्रकार और विशेषताएं।

वेमभूपाल या वीरनारायण ने 'साहित्य –चिन्तामणि' या 'साहित्यचूडामणि' नाम से काव्यशास्त्र लिखा। इसमें ध्वनि, शब्दार्थ, ध्वनिवभेद गुणीभूत व्यग्य और अलंकारादि सात अध्याय है।[1] महाकवि चन्द्रशेखर के पौत्र तथा नारायण के पुत्र विश्वनाथ का उडीसा के राज दरबार सान्धि ाविग्रहिक और महापात्र के पद पर असीन थे। काव्यशास्त्र पर 'साहित्यदपर्ण' इनकी काव्य शास्मात्मिका कृति है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं।

---

1 मद्रास कैटलाग – XXII, No, 12965 PP- 8708-10

मल्लिनाथकृत 'तरला' टीका, गगानन्दकृत काव्यडाकिनी और 'कर्णाभूषण', रूपगोस्वामीकृत उज्ज्वलनीलमणि' इत्यादि।

नाट्यशास्त्र

14 वी शताब्दी के 'नटांशम्' मे रस, अभिनय और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन है। राणाकुम्भा या कुम्भकर्ण कृत सगीतराज मे नाट्य शास्त्र, भाव रस, नायक नायिका और अनुभूतियो का वर्णन है। कुमारगिरिकृत 'वसन्तराज्य' अब पूरी तरह नष्ट हो चुका है। इसके उद्धरण यत्र–तत्र मिलते है। इसमे नाट्यशास्त्र और शकुन –शास्त्र निहित है। रूपगोस्वामी की 'नाट्य –चन्द्रिका' मे आठ अध्याय है।

सगीत

इस युग मे सगीत पर उत्तर और दक्षिण दोनो भागो में पर्याप्त कार्य किये गये। शार्ङदेव के 'सगीत रत्नाकर' पर सिह भूपालकृत 'सुधाकर' तथा शाण्डिल्यगोत्रीय नारायणी और लक्ष्मीधर के पुत्र कल्लिनाथकृत 'कलानिधि' ये दो टीकाए इसी समय लिखी। दामोदरकृत 'सगीतदर्पण', कुम्भकर्णकृत 'सगीतराज, मदनपालकृत 'आनन्दसजीवन',सुधाकलशकृत 'सगीतोपनिषद, विद्यारण्यकृत 'संगीतसार, गोपेन्द्रटिप्पा भूपालकृत 'तालदीपिका,' सोमरायकृत 'सर्वरागसुधारसम्' अथवा 'नाट्य चूणामडि', लक्ष्मण भास्करकृत 'मातगभरत,' गौरनार्यकृत 'लक्ष्मण दीपिका' और उसकी लक्ष्मी नारायण प्रणीत 'सगीत सूर्योदय' आदि प्रमुख सगीतग्रन्थ इस काल मे लिखे गये।

1. Gode, I.H.Q., XV- 512-22

छन्द –शास्त्र

वृत्तरत्नाकर के सदृश गगादास [1] (1300–1500) द्वारा विरचित 'छन्दोमजरी' भी प्रसिद्ध हुई। सौपद्म व्याकरण के रचयिता पद्मनाभ ने 'छन्दोरत्न' नामक ग्रन्थ लिखा। नारायणकृत 'वृत्तरत्नाकरटीका' भी एक उत्कृष्ट रचना है।

रति–विषयक–साहित्य

धूर्तसमागम के रचयिता ज्योतिरीश्वर कविशेखर ने 'पचसायक' की रचना की। पाच भागो मे विभक्त कामशास्त्र पर यह श्रेष्ठ रचनाओ मे शुमार की जाती है। सात अध्यायो मे विभक्त 'रतिरत्न –प्रदीपिका' मे विजयनगर के प्रौढदेवराय (15 वी शताब्दी) ने कामानन्द पर विस्तृत चर्चा की है। 1457 ई0 मे कवि अनन्तकृत 'कामसमूह' मे प्रेम के हर पक्ष पर विवेचन उपलब्ध है। गीतगोविन्दकार से भिन्न जयदेव कृत 'रतिमन्जरी' और कल्याणमल्लकृत 'अनन्तमजरी आदि प्रमुख है काम शास्त्रीय ग्रन्थ है।

औषधीय–साहित्य

वैद्य केशव के पुत्र और हेमाद्रि (1300)
'शार्ङधरसहिता' की टीका करने के साथ ही चूर्णो और गोलियों पर 'शतश्लोकी ग्रन्थ' लिखा। अफीम और चादी का औषध मे प्रयोग, नाडी परीक्षाणादि का विवरण शार्ङधर सहिता मे मिलता है। बाणभट्ट और नित्यनाथ अथवा अश्विनी कुमार ने रसायन शास्त्र पर 'रसरत्नसमुच्चय' ग्रन्थ लिखा। गोपालकृष्णकृत 'रसेन्द्रसारसग्रह' एव रामचन्द्र गुहाकृत 'रसेन्द्रचिन्तामणि'

रसायनविद्या पर चौदहवी शताब्दी मे लिखे गये श्रेष्ठ ग्रन्थ है। 1383 मे 1499 के मध्य वल्लभ के पुत्र मिमल्लनामक तैलग ब्राह्मण ने योतरगिणी, रसप्रदीप पथ्याथ्यनिघण्टु, 'वृत्तमाणिक्यमाला' और अलकारमजरी की रचना की 'लोलिम्ब राजकृत' ' वैद्यजीवन और भावामिश्रकृत 'भाव प्रकाश' भी प्रमुख वैद्यक ग्रन्थ है।

अंतरिक्ष विज्ञान और ज्योतिष शास्त्र –अतरिक्ष विज्ञान मे भास्कराचार्य के बाद किसी ने बहुत रुचि नही दिखायीं। मदनपाल ने 'सूर्य सिद्धान्त विवेक' अथवा 'वासनार्णव' नाम से 'सूर्य सिद्धान्त' पर टीका किया। मार्कण्ड कृत तिथ्यादि–पत्र और गणेश कृत ग्रह लाघव विशेष महत्व नही रखते। ज्योतिष पर विद्यामाधवीय और ज्योतिर्विदाभरण उल्लेख है।

राजनीति

राजनीति और विज्ञान पर इस काल मे बहुत काम नही हुआ। चन्द्रशेखर कृत 'राजनीति –रत्नाकर' मे सोलह अध्याय है जो तरग कहे गये हैं। इसमे राजा, अमात्य, प्राड्‌विवाक, सभ्य, किले, कोष, सेना राजदूत, गुप्तचर, मण्डल राज्य के सात तत्त्व और उत्तराधिकारी का वर्णन प्राप्त है।

अन्य भाषाएँ और साहित्य–

हिन्दी

प्रारम्भिक रचनाएँ–सल्तनत काल के अत तक भी हिन्दी का विकास नहीं हो पाया था। वास्तव मे इस युग मे हिन्दी अपनी प्रारम्भिक

अवस्था मे थी और 'पृथ्वीराज –रासो' जैसी महत्त्वपूर्ण रचना लगभग 1206 ई मे लिखी जा सकी थी। हिन्दी लेखन के मुख्य केन्द्र राजस्थान मे थे और उस समय साहित्य के नाम पर यशोज्ञान और धार्मिक पुस्तको की ही रचना अधिक हुई। इस श्रेणी मे नरपति नाल्ह का 'बीसल –देव –रासो' तथा 'खुमान –रासो' उल्लेखनीय है। अमीर खुसरो ने हिन्दी मे भी पद रचना की थी। भक्ति आदोलन के घुमक्कड सतो, गोरखनाथ, कबीर, आदि ने ईश्वर की स्तुति मे गीतो की रचना की थी। कबीर के पद अवधी, ब्रजभाषा पूर्वी (बिहारी) और फारसी आदि मिली–जुली भाषाओ मे रचित थे। काव्य रचना मे धर्म दास, गुरुनानक, दादू और सुंदर दास कबीर के अनुगामी थे। गुरुनानक ने 'जपजीसाहब' की रचना की थी, जिनमे से अधिकाश आदि ग्रथ मे सग्रहीत है। मुगलो के आगाज के समय तक हिन्दी अपने पैरो पर खडी हो चुकी थी। मुगल बादशाहो विशेषकर अकबर की उदार नीतियो से हिन्दी विकास को यथेष्ट बल मिला। सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यान तथा तथा ऐतिहासिक महाकाव्य 'पद्मावत' हिन्दी भाषा व छद में रचित है, किन्तु यह फारसी की ही मसनवी शैली पर आधारित है और इसका स्वरूप फारसी से ही मिलता–जुलता है।

काव्य

भक्ति समुदाय की प्रधान कवियत्री मीराबाई (1573–1603) ने अपने पदो की रचना हिन्दी मे की थी। उनके द्वारा लिखी चार पुस्तको का पता चलता है। काव्य और कला से सबंधित पुस्तक 'हित–तरगिणी' के प्रणेता कृपाराम (रचनाकाल 1540) थे। यह ब्रजभाषा की प्रारम्भिक रचनाओ मे से है। कृष्ण दास (1543) अष्टक्षाप के प्रमुख कवि थे। उनकी पुस्तक 'युगल– मानचरित्र' में राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगो का विवरण है। नरहरि

बदीजन (रचनाकाल 1550) अकबर के राज्यकाल के प्रमुख कवि थे। बादशाह ने उन्हे महामात्र की उपाधि दी थी। 'रुकमिणी–मगल' और 'कवित्त –श्रृगार' उनकी अन्य रचनाएँ थी। नददास उस युग के महान कवि थे। नन्ददास की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपचाध्यायी' है। राजा बीरबल (1528–83) अपने व्यग्यात्मक पदो के लिए विख्यात है। वे ब्रह्मा के उपनाम से भी लिखते थे। अकबर ने उन्हे कविराय अर्थात हिन्दू राजकवि की उपाधि दी थी। आगरा के अधे कवि सूरदास (1478–1583) भारत हिन्दी भाषा के महत्तम गीतकार माने जाते है। कृष्ण की 'बाल –लीला' सूर की काव्य भूमि रही है। कृष्ण उनके आराध्य देव थे, जिन्हे वे प्रेम का प्रतीक मानते थे। सूरदास ने सहज भाषा व सुदर शैली मे हजारो पदो की रचना की थी। उन्होने हिन्दी की बोली ब्रजभाषा मे अपनी काव्य रचना की थी, जो अपने आपमें एक प्रतिमान बन गया। उनकी प्रधान रचना 'सूरसागर' लगभग पॉच हजार पदों का संकलन है। यह परिमाण मे सयुक्त रूप से इलियड और ओडिसी से अधिक है। किन्तु सम्पूर्ण रचना मे काव्य की श्रेष्ठता विद्यमान रहती है। उनकी अन्य रचनाओ में 'भ्रमरगीत' उल्लेखनीय है। केशवदास (1555–1617) उस युग के महान कवियो मे से हैं 'कवि –प्रिया' व 'रसिक –प्रिया' उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ है, रसखान (रचनाकाल 1583) उस युग के दूसरे प्रसिद्ध कवि है, इनकी दो रचनाएँ 'प्रेम –वाटिका' और 'सुजान –रसखान' है। 'नाभा जी दास' कृत भक्तमाल भी एक उल्लेखनीय रचना है।

उत्तर भारत के सभी कवियो मे श्रेष्ठ 'तुलसीदास' थे जो सुप्रसिद्ध रामचरित मानस के रचयिता है। उन्होंने भगवान राम के चरित्र पर

आधारित इस महाकाव्य का लेखन अयोध्या मे 1574 से आरम्भ कर 1584 मे बनारस के पवित्र गगा तट पर पूर्ण किया। इस काव्य की रचना हिन्दी की बोली अवधी मे की गई है किन्तु तुलसी दास ने अन्य बोलियो, विशेषकर ब्रजभाषा, के शब्दो का भी प्रचुर मात्रा मे उपयोग किया है। सरल भाषा मे लिखे गये इस काव्य मे कही–कही फारसी व अरबी के शब्द भी आते हैं। ऊँचे आदर्शों को सुन्दर शैली मे प्रस्तुत करने वाला इनका काव्य विशेषकर 'रामचरित –मानस' भारतीय साहित्य के लिए एक अनुपम देन है। कवि को हिन्दी काव्य की प्रत्येक विधा पर समान अधिकार था अतएव इन्हे पूर्ण कवि की उपाधि से अलकृत करना सर्वथा उपयुक्त है।

तुलसीदास के रामचरित मानस महाकाव्य और इनकी कवित्त्व प्रतिभा की प्रशंसा, सस्कृत के मूर्धन्य विद्वान मधूसूदन सरस्वती, जो अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक थे, ने की है।[1]

अब्दुर्रहीम खानखाना (1535) हिन्दी के प्रमुख मुसलमान कवि थे। उनकी मुख्य रचनाएँ ''रहीम दोहावली'' या 'सतसई वरवै नायिका भेद' और 'श्रृगार सोरठा' हैं। उस युग की विख्यात रचनाओं में सुन्दरदास की 'सुंदर –विलास', बनारसी दास कृत (1506) 'बनारसी –विलास' , ध्रुवदास की 'भगत –नामावली', चिंतामणि रचित 'छद– विचार' और उस्मान की पुस्तक 'चित्रावली' उल्लेखनीय है। 'सुंदर –श्रृगार' के कवि सुदर को तत्कालीन शासक ने महाकविराय की उपाधि प्रदान की थी।

सेनापति को अपने प्रकृति प्रेम के कारण भारत का बड्र्सवर्थ

---

1 आनन्दकाननेह्यस्मिन्तुलसी जगमस्तरू ।
कवितामजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता।।
मधसूदन सरस्वती

कहा जाने लगा। इनकी प्रसिद्ध कृति ''कवित्त रत्नाकर'' है। उन लोगो मे जिन्होने भक्ति से ऊपर उठ कर कला की आराधना की तथा पुराने काव्य को नई दिशा दी, जौनपुर के कवि 'बिहारी –लाल –चौबे' का नाम प्रमुख है। 'सतसई' अर्थात् सात सौ दोहे इनकी अनुपम रचना है। लाल कवि के नाम से विख्यात गोरा लाल पुरोहित भी समकालीन कवि थे।

गद्य

कुछ अपवादों को छोडकर, मध्यकालीन भारत का सपूर्ण हिन्दी साहित्य काव्य है, कुछ ही विद्वानो ने गद्य का लेखन किया है। इस युग की प्रस्तुत की गयी गद्य रचनाओ मे विट्ठलनाथ (1550) की 'श्रगारमन्दिर' और नन्ददास(1568) कृत 'विज्ञान–अर्थ–प्रकाशिका' उल्लेखनीय है। गगाभट्ट (1570) ने 'चद छद वर्णन की महिमा' नामक सोलह पृष्ठो की पुस्तक सरल हिन्दी मे लिखी थी। जाटमल ने विख्यात पुस्तक गोरा और बादल की कहानी की रचना की थी। जिसमे रत्नसेन, पद्मावती, गोरा और बादल की कहानी है। यह गद्य–पद्य मिश्रित कृति है। मनोहर दास ने ज्ञान चूर्णवाचिका का लेखन पूरा किया। जगजीचरण ने ''रतन महेश दास वचनिका लिखी। अजीत सिंह ने 'गुणसार' नामक एक पुस्तक लिखी, जो आधी गद्य व आधी पद्य में है।

फारसी

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि 1000 के तुर्क फारसी सेना के भारत पर आक्रमण व विजय के पश्चात् सम्पूर्ण भारत अलाउद्दीन खिलजी के हाथ आ गया। गजनवी दरबार में नि सदेह फारसी के साथ अरबी का भी प्रयोग होता था किन्तु कब्जा किए गये नये प्रदेशो मे

फारसी ने ही अपना पूर्ण आधिपत्य जमाया। इसके तेजी से विकास के लिए अनुकूल कारण से बचने के लिए ट्रास ओसियाना, बुखारा, खुरासान तथा अन्य स्थानो से कई फारसी विद्वान भाग कर यहाँ आ गये थे लोग अपने साथ पुसतको का सग्रह तो लाए ही, इसके अलावा यहाँ कई कालेजो की स्थापना भी की, जिससे भाषा के विकास और प्रचार को बल मिला। कुतुबुद्दीन ऐबक अल्तमश और रूकुनुद्दीन के सरक्षण ने भी फारसी विकास को प्रोत्साहित किया।

काव्य

उस काल की कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पुस्तकों मे मसूद–सद–सलमान का 'दीवान' (1046–1121), हसन निजामी निसापुरी का 'साल–ए–नासिरी' उल्लेखनीय हैं। यहाँ युद्ध सबधी लिखित पुस्तक 'फखेमुदाबीर' (1172–1242) की 'अदब–उल–हर्ब' तथा अवफी बुखारी का (1220) फारसी काव्य सग्रह उल्लेखनीय है। अल्बरूनी कृत 'किताबस समदना' या दवाओं की किताब का फारसी अनुवाद 'बक' ने किया। भारत मे फारसी साहित्य का महान विद्वान–अमीर खुसरो (1253–1325)' अलाउद्दीन के युग का था। कहा जाता है कि उसने विभिन्न विषयो पर निन्यानबे पुस्तके लिखीं तथा करीब पांच लाख पदो की रचना की थी। उसके द्वारा बलबन के पुत्र राजकुमार मुहम्मद के मृत्यु पर लिखा गया शोक गीत बडा ही मार्मिक हैं खुसरो ने अपने पाच समसास अर्थात साहित्यिक रचनाऍ 1298 और 1301 के मध्य पूरी की थी। किरन–ए–सदाये मे जिसे उसने 1289 मे पूरा किया था, बोधरा खा और कैकुवाद की ऐतिहासिक भेट का विवरण और दिल्ली शहर का मनोरजक वर्णन दिया गया है। उसके समकालीन, कवि और मित्र हसन सिजवी देहलवी (1252–1337) भी

प्रसिद्ध लेखक व कवि था, जिसकी तारीफ महान फारसी कवि जमी ने भी की थी। फवाइद–उल–फुआद मे उनके आध्यत्मिक गुरू 'निजामुद्दीन औलिया' के साथ हुए बात चीत का सकलन है। जिया नकशाबी (1350) का तूतीनामा अर्थात् तोते की पुस्तक उस युग की दूसरी सर्वश्रेष्ठ कृति है। जो सस्कृत की एक पुस्तक पर आधारित है। तुगलक के समय मे मध्य एशिया से आई नई प्रवृत्तियो का समावेश होने लगा था, किन्तु फिर भी कथावस्तु के रूप मे इतिहास ही मुख्य विषय था, जो कई उदाहरणो से प्रमाणित हो जाता है। अबासीद–खलीफा के द्वारा मुहम्मद बिन तुगलक के अभिषेक पर बदर–इ–चाच ने 'कसीदा' की रचना की थी। जियाउद्दीन बरनी के ऐतिहासिक लेख, शम्सुद्दीन सिराज का तारीख–ए–फिरोज–शाही ऐसे ही उदाहरण है। फिरोजशाह के राज्यकाल मे लिखी गई सिरत–ए–फिरोजशाह भी ऐसी ही रचना है। इस पुस्तक मे चिकित्सा शास्त्र को अधिकृत पुस्तक–तिब–ए–फिरोजशाही का वर्णन मिलता है। मिया बोवा (सुल्तान सिकदर का प्रधानमत्री) ने भी चिकित्सा विज्ञान पर एक विशाल ग्रंथ लिखा जिसे मदन–उस–शिया या तिब–ए–सिकदरी भी कहते हैं मुबारक शाह के राज्यकाल मे याहिया बिन सरहिन्दी ने तारीख–ए–मुबारक शाही लिखी। दिल्ली के शेख जमाली कम्बू सिकदर लोदी के दरबारी कवि थे उनकी रचनाएँ सियर–उल–अरीफन और 'मसनवी', 'मीर और मेहर' है। अब्दुल एसअजीज नामक विद्वान ने सगीत और नृत्य पर भी लिखा है।

सूफी रचनाएँ

फारसी साहित्य मे सूफियो का योगदान भी बडा महत्वपूर्ण है।

इसमे वार्तालाप, पत्र तथा आत्मकथा शामिल थी। दलैत–अल–अरफिन मे अजमेर ने महान सत मोइनुद्दीन चिश्ती के कथनो का सग्रह है (1142–1235) फवाइदस सालिकिन के नाम समकालीन बख्तियार काकी के कथनो का संग्रह भी बाबा फरीद ने तैयार किया था (1175–1265)। अमीर खुसरो सत निजामुद्दीन और औलिया के परम शिष्य थे, उन्होने इस महान सत के साथ हुए वार्तालाप का सकलन अपनी पुस्तक 'अफजालूस–शवाहिद' में किया है। उस काल के प्रथम और श्रेष्ठ गद्य लेखकों मे 'सर्फदीन मनेरी' का नाम आता है ये दार्शनिक और विचारक थे तथा इन्हे समकालीन लेखन की पूरी जानकारी थी। इन्होने कई निबंध लिखे थे उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मकतबात–ए–सादी' मानी जाती है जिसकी विषय वस्तु इस्लामी रहस्यवाद है। मौलाना मुजफ्फर शम्स वल्खी ने इस्लामी परम्पराओं पर एक आधिकारिक पुस्तक लिखी। इस सबध मे तातार खॉ की प्रेरणा पर कई उलेमाओ द्वारा रचित पुस्तक "तफसीर–ए–तातार खॉ " का नाम भी उल्लेखनीय है। अन्य महत्वपूण्र ग्र ंथों में 'फतबा–ए–फिरोजशाही' का नाम उल्लेखनीय है। जिसका संकलन बादशाह के राज्यकाल मे हुआ था।

दकन की देन

फारसी साहित्य मे दकन का भी महत्वपूर्ण योगदान है। इसामी की "फतह–उल–सलातीन" एक बडी साहित्यिक उपलब्धि है जिसमें लगभग 17 हजार पदों मे इसामी ने महमूद गजनवी से लेकर अपने समय तक (1350) के मुस्लिम विजय अभियानों का विवरण प्रस्तुत किया है। उसने इस पुस्तक को अपने सरक्षक सुल्तान अलाउद्दीन बहमन शाह को समर्पित किया था। जो

दक्षिण मे बहमनी साम्राज्य का सस्थापक था। मुहम्मद शाह द्वितीय (1463–1482) के श्रेष्ठ वजीर ख्वाजा जहान महमूदगवान के समय मे कई उत्तम ग्रथो का निर्माण हुआ। इस सबध मे सफुद्दीन अली याज्दी (1454) की रचना 'जफरनामा', जलालुद्दीन की शबाकिल–हूर और सम्सुद्दीन सख्वी की 'धुरनामा' उल्लेखनीय है।

गद्य

गद्य लेखन की जो शैली मुगल दरबारों मे तथा दकन के समकालीन दरबारो मे विकसित हुई वह सल्तनत के फारसी गद्य के अनुरूप थी। नि·संदेह उस समय इतिहास सबधी रचनाएँ अधिक लिखी गई किन्तु फिर भी साहित्य की कोई ऐसी विधा नही थी जो अछूती रही हो। आत्मकथा, कोश, ज्ञान कोश, धर्मनीतिशास्त्र और प्रेम पत्र आदि सभी प्रकार के नमूने प्राप्त होते है। किन्तु केवल भारत मे ही नही वरन् समकालीन ईरान मे भी गद्य लेखन के स्तर मे गिरावट अधिक स्पष्ट परिलक्षित हुई। उस काल में भारत में रचित अधिकांश कृतिया शब्दाडम्बर तथा अतिश्योक्तियो से पूर्ण थी। यह बात उस युग मे तैयार की गई सरकारी इतिहास पुस्तको के लिए अधिक सत्य प्रतीत होती है।

इस श्रेणी मे महत्वपूर्ण स्थान "अबुल–फजल द्वारा " रचित "अकबर नामा" का है। इसमे सम्पूर्ण शासन का विस्तृत इतिहास वर्णित है। इसके अतिरिक्त सल्तनत काल मे तैयार की गई ऐसी पुस्तको का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इनमे से मिनहाज उस सिराज का ग्रथ तबकात–ए–नासिरी (1256) मे पूर्ण हुआ था। इसमे पैगम्बरो से आरम्भ करके

दिल्ली के सुल्तानो तक का विवरण है अपने सरक्षक नासिरूद्दीन के राज्यकाल के प्रति प्रशसात्मक रहते हुए भी यह पुस्तक उपयुक्त और महत्वपूर्ण शैक्षणिक सूचनाओ से पूर्ण है। इस श्रेणी मे अमीर खुसरो के तुगलकनामा व नूह सिफर जैसे गद्य और पद्य लेखन को सम्मिलित किया जा सकता है। उसका 'खजाय–नुल–फतह' अलाउद्दीन के राज्य के सोलह वर्षो का विवरण प्रस्तुत करता है। शम्सुद्दीन शिराज अफीफ (1242) कृत फिरोजशाही एक जीवनी समान क्रमबद्ध विवरण है।

पत्रो का सग्रह

महत्वपूर्ण और विद्वान व्यक्तियो के पत्र भी साहित्य की एक कोटि मे आते है। पत्रो मे फारसी गद्य के सुदर नमूने देखे जा सकते हैं इनमे घरेलूपन और अपनत्व की भावना का स्पर्श तो है ही, प्रवाह मुहावरेदार शैली और रोचक भाषा मौजूद है। इशा–ए–अबुल फजल, इशा–ए–फैजी, इशा–ए–ब्राह्मण, रक्कत–ए–आलमगीरी ऐसे ही महत्वपूर्ण संग्रह है।

अनुवाद

सल्तनत काल मे कई सस्कृत पुस्तके फारसी मे अनुवादित की गयी थीं। संभवतः सबसे पहला अनुवाद अल्तमश के समय आरभ किया गया। विद्वान पंडितो की सहायता से बत्तीस कथाओं का अनुवाद किया गया था, जिसका नाम "नामा–ए–खिराद अफजा" था। नक्शबी कृत 'तूतीनामा' अर्थात् तोते की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। जो मूलत एक सस्कृत की एक खगोल विद्या की पुस्तक का अनुवाद किया, जिसका नाम दलैल–ए–फिरोजशाही रखा गया। सस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तक 'हितोपदेश' का अनुवाद

'मुफर्रीह–अल–कलाब' के नाम से किया था। चिकित्सा शास्त्र की संस्कृत पुस्तक ''आयुर्महावैदक'' का अनुवाद 'मियाभोवा' ने ''मदनउश–शिफा'' के नाम से किया था। योग की पुस्तक 'अमृत कुण्ड' का अनुवाद फारसी मे करने का श्रेय काजी रूक्नुद्दीन को प्राप्त होता है। अरबी व तुर्की ग्रथो का भी अनुवाद किया गया था।

अरबी

आठवी सदी मे सिंध पर अरब विजय तथा भारत के अनेक भागों पर लगभग सात सदियो तक मुस्लिम शासन के बावजूद बहुत कम अरबी साहित्य का सृजन भारत मे हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि मूलत तुर्की क्षेत्र का होते हुए भी भारत मे इस्लाम का आगमन उत्तर–पश्चिम की ओर से हुआ, जहॉ फारस की श्रेष्ठससकृति से यह पूर्णत परिवर्तिति हो गया। अत स्वाभाविक ही है कि अधिकाश पुस्तके अरबी मे न होकर फारसी में लिखी गई। सिध के अधिकाश अरबी लेखको की रचनाए लुप्त हो गईं, जो आगे के पीढियो के लिए अनुपलब्ध है। इनमे अबु–अता–अफलाहस सिन्धी, रहीब, सुहैव जैसे कवियो की रचनाऍ तथा हाजिब अब्दुर्रहमान तथा अबु हाजिब रबी–बिन–सुबैया के भाष्य शामिल है। ये सभी रचनाए आठवीं सदी की थी अबु रैहान, अलबरूनी, जो गजनवी के महमूद के साथ भारत आया था। अपना प्रसिद्ध ग्रथ किताब–अल–हिन्द' अरबी मे ही लिखा था। उसकी अन्य रचनाओ मे खगोल विद्या की पुस्तक कानून–ए–मसूदी और खनिज विज्ञान की पुस्तक उल्लेखनीय है। रजिउद्दीन हसन–अस–सिधानी (1252) जो अल्तमश के राज्यकाल मे था, एक वैज्ञानिक शब्दकोश लुबा–उल–जखीरा और

इतिहास–पुस्तक 'मशरीकल अनवर' का लेखक था। जौनपुर के अल्लाहदीया ने कई अरबी पुस्तके लिखी थी, जिनमे हिदायत–अल–फिक भी है ये सभी पुस्तके जौनपुर के शरकी राजा इब्राहिम (1401–1440) के सरक्षण मे लिखी गई थी।

गुजरात मे सूफी सिद्धान्तो तथा अन्य धार्मिक विषयो पर अरबी मे कई पुस्तके लिखी गई थी। इसके अलावा उस युग की अन्य रचनाये मुहम्मद–बिन–ताहिर लिखित 'हदीथ साहित्य कोश', 'मजमा–अलबिहार' और अली–अल–मुतक्को कृत नजुल–अम्माल थी गुजरात के इतिहास से सम्बन्धित अब्दुल्ला–अल–मकी की पुस्तक जफारूज वली भी इसी युग की पुस्तक है। कुरान पर लिखे गये भाष्य मे अलीबीन महाइमी की 'तफसीर–अर–रहमान' और 'सवाती–अल–उल्हाम' उल्लेखनीय है।

दकन के बहमनी और कुतुबशाही सुल्तानो के सरक्षण मे कई अरबी पुस्तके लिखी गई थी। मनहलूस–सफी–सरही–अल–वफी नाम से अरबी का एक श्रेष्ठ व्याकरण बहमनी राजा अहमद शाह प्रथम 1422–36 के संरक्षण में मुहम्मद अल मखजमी ने तैयार किया था। मुहाजिबुद्दीन जिलानी द्वारा शजरात–अद–दानिश नाम की पुस्तके कुतुबशाही राजा अब्दुल्ला के राज्य काल में लिखी गई थी। फरीदुद्दीन ने खगोल विद्या पर जे–इ–शाह–जहानी सग्रह तैयार किया था। अन्य पुस्तको मे सैयद अब्दुल्ला–अवाल कृत फैजल बारी, शेख निजामुद्दीन के भाष्य तथा सग्रह व शाह वलिउल्ला देहलवी की हुज्जत–अल्लाह–अल–बालिगा है। ये सभी धार्मिक सिद्धान्तो पर आधारित पुस्तके है।

यह भी एक विचित्र तथ्य है कि इस युग मे अरबी और फारसी से बहुत कम पुस्तको का अनुवाद सस्कृत मे हुआ। टोलमी की पुस्तक 'अल्मा–जेस्त' का अनुवाद 'पडित जगन्नाथ' द्वारा तैयार किया गया। जि–ए–मिर्जई हकीम फजुल शिराजी ने और युकिलड की ज्यामिति का अनुवाद नारायण सुख उपाध्याय ने किये थे। ये सब महत्त्वपूर्ण अनूदित पुस्तके थी।

असमिया

वास्तविक अर्थ मे असमिया साहित्य का प्रारम्भ तेरहवी सदी से ही हुआ। बारहवी सदी मे कामरूप साम्राज्य के विघटन के बाद एक नया राज्य कामता बना था यहॉ के प्रारम्भिक लेखक हेमा सरस्वती और हरिहर विप्र थे जिन्होने तेरहवी लेखा हेमा सरस्वती और हरिहर विप्र थे। जिन्होंने तेरहवी सदी के अत मे क्रमश· 'प्रहलाद चरित' और 'वहरूवाहन पर्व' की रचना की थी 'रूद्र कदाली' की 'द्रोण पर्व' तथा 'कवि रत्न सरस्वती' की 'जयद्रथ वध' उस युग की महत्त्वपूर्ण रचनाऍ थी। असमियॉ में रामायण का अनुवाद करने का श्रेय 'माधव कदाली' को है, जो चौदहवी सदी के लेखक थे उनका काव्य सुन्दर तथा भावात्मक था । लगभग उसी समय रूद्र कदाली और कविरत्न सरस्वती ने विशाल महाकाव्य महाभारत की कुछ घटनाओ का अनुवाद किया था। असमिया साहित मे काव्य का उत्कर्ष उस समय हुआ जब शकर देव और उनके शिष्यो ने इसी के माध्यम से पूरे राज्य मे उपदेश देना आरम्भ किया। शकर देव ने स्वय रामायण और भागवत पुराण के कुछ अशो का अनुवाद किया था। माधव देव ने राजसूय यज्ञ तथा वर गीता मे भगवान कृष्ण की जीवनी के विभिन्न पक्षो का विवरण प्रस्तुत किया था। अहोम राजाओं के हिन्दू

धर्म मे उसी समय दीक्षित होने से मध्यकाल मे असमिया साहित्य के विकास को पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। उस समय के श्रेष्ठ विद्वान कविराज चक्रवर्ती थे। जिन्होंने ब्रह्मवैर्वत पुराण तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अनुवाद किया था। राजा राजेश्वर सिह ने कीचक वध नामक नाटक तैयार किया था। असमिया साहित्य का विवरण उसके अनुपम बुराजियो अर्थात इतिहास लेखों के बिना पूर्ण नही होता है, इसमे राजनीतिक घटनाओं, कूटनीतिक –पत्राचारों, न्यायिक और राजस्व अभिलेखों के साथ ही जन सामान्य के आचार–व्यवहार तथा आर्थिक स्थितियों का विस्तृत विवरण दिया है।

बंगला

बगला साहित्य की प्रथम रचना "चारिय पद " दसवी सदी की है। इसमे लेखक ने पूर्ण ब्राह्मणवादी सिद्धान्तो का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए भक्ति व आध्यात्मिक चितन की श्रेष्ठता पर बल दिया है। बंगाल पर मुसलमानों की विजय ने इसे शिथिल बना दिया और इसके बाद तीन सदियो तक कोई महत्वपूर्ण रचना प्रकाश मे नही आयी।

चौदहवी सदी के बाद बगला साहित्य को तीन प्रमुख कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है–चैतन्य के विचार और जीवनाभिमुख वैष्णव साहित्य। दूसरा, रामायण, महाभारत व भागवत पुराण जैसे सस्कृत साहित्य पर आधारित काव्य एवं तीसरा मगल काव्य।

चडीदास बगाल मे पहले महान कवि हुए जिन्होने वैष्णव सिद्धान्तो को साहित्य मे स्थान दिलाया जैसा कि जयदेव कृत गीत गोविन्द मे प्रस्तुत

किया गया था। नरहरि, सरकार रामानन्द बसु और मुरारी गुप्ते महापुरुष चैतन्य के समकालीन थे और इन्होने धार्मिक विषयो को लेकर श्रेष्ठ काव्य रचना की। मध्यकाल मे और उसके बाद चैतन्य को लेकर बडी सख्या मे चरित्र विवरण प्रस्तुत किये गये। इन सब मे 'कृष्णदास कविराज' कृत 'चैतन्य चरितामृत' विशेष महत्वपूर्ण है, यह वैष्णव सिद्धान्तो के विश्वकोश के समान है। सस्कृत के शास्त्रीय साहित्य का बडी सख्या मे अनुवाद किया गया, साथ ही इन पर अधारित रचनाएँ भी प्रस्तुत की गई इनमें अधिकाश रामायण व महाभारत से सम्बन्धित थी। इन सब मे कृतिवास की "रामायण" तथा काशीराम कृत "महाभारत "को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।
मगलकाव्य के ,द्वारा बगाल की विभिन्न जाति समुदायो द्वारा अपने देवी देवताओ की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार का काव्य बगाल की अपनी विशेषता है। मणिक दत्त और मुकुंदराम पंद्रहवी और सोलहवी सदी के दो मुख्य कवि थें भरतचन्द्र का "आनन्दमंगल" भी इसी कोटि का काव्य है।

गुजराती

गद्य और पद्य दोनो रूपों मे गुजराती साहित्य का सुविकसित स्वरूप बारहवी सदी और उसके बाद से ही उपलब्ध होने लगता है। सालि भद्र कृत 'भारत–बहु होली रस' सभवत गुजराती की प्रथम साहित्यिक रचना है। यह 1185 मे पूर्ण किया गया था। इस युग के काव्य का उत्तम नमूना 'कन्हदा–दे–प्रबध' है, जिसकी रचना 1456 मे हुई थी। इसमे मुस्लिम आक्रमणकारियो के विरुद्ध गुजरातियों की वीरता और अलाउद्दीन खिलजी के अत्याचारो के विरुद्ध राजपूत शौर्य का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। भीम की

'सदायवत्स कथा' 1410 विजय सेना की 'रेवत–गिरि रास' और विनय प्रभा कृत 'गौतम स्वामी रास' 1356 उसी युग की काव्य रचनाएँ है। इसके अलावा राजशेखर, जयशेखर और सोमसुन्दर की कविताए भी उपलब्ध है। 'माणिक्य' की ' पृथ्वी चन्द चरित' पद्ययुक्त गद्य की पुस्तक है। भक्ति आदोलन जो पद्रहवी शताब्दी मे सम्पूर्ण भारत मे फैल चुका था। साहित्यिक–नव– बिहान लाने वाला हुआ। नरसिह मेहता 1410–1480, बल्हन 1434–1514 और आखो 1591 इसी युग के साहित्यकार थे। मेहता ने बडी सख्या मे गीत व कविताएँ लिखी थी।

कन्नड

मध्य युग के कन्नड साहित्य पर सामाजिक और धार्मिक सुधार के 'वीर शैव' आदोलन का बहुत बडा प्रभाव है। वसवेश्वर जैसे सुधारक तथा नयासेन साहित्यकार ने नये आंदोलन के संदेश के प्रचार–प्रसार के लिए नवीन और लोकप्रिय माध्यम अपनाने पर यथेष्ट बल दिया। इस प्रकार सशक्त और सरल कन्नड मे लिखित वचन अर्थात गद्य–पद्य युक्त रहस्यवादी साहित्य का आरंम्भ हुआ। 'वासवा', 'अल्लमा प्रभु' और 'अक्का महादेवी' इस आंदोलन के प्रमुख कवि थे। बारहवी सदी के अत मे दो महान वीर शैव कवियो–'हरिहर' व 'राघवंका' ने नई शैली और देशी छद के नाम से ज्ञात नया छद देकर कन्नड साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की है। हरिहर कृत 'वसवेश की जीवनी' तथा 'राघव शकर' की 'हरिश्चन्द्र–काव्य' नामक 'पुस्तक नई शैली के उत्तम उदाहरण है। बाद मे, होयसल नरेशो के संरक्षकत्व मे विद्वतापूर्ण

रचनाएँ विशेषकर चपू प्रकार का शास्त्रीय काव्य प्रस्तुत किया गया। इस युग की महत्वपूर्ण रचनाओं मे 'नेमिचन्द्र कृत' 'लीलावती' और नेमिपुराण, रूद्र भट्ट का' जगन्नाथ विजय', जन्ना लिखित 'अनन्त पुराण', और अदैया का 'कविबगर काव्य' उल्लेखनीय है।

काश्मीरी

काश्मीर की सबसे पहली रचना तेरहवी सदी की 'शतीकठ' कृत 'मोहन्याय प्रकाश' है। यह पुस्तक 'तत्र विद्या पर है। इसमे क्रमरथ अर्थात वास्तविकता की व्याख्या करने का प्रयत्न है। इसके बाद सौ वर्षों तक कोई भी रचना उपलब्ध नही होती है 'लालेश्वरी' नामक कवियित्री और 'शेख नुरूद्दीन 1377' पद्रहवी सदी के माने जाते है। लालेश्वरी के काव्य का विषय आध्यात्मक है तथा उसमें 'एक सत्य' की खोज की आतुरता है। शेख नुरूद्दीन ने सैकडो दोहे लिखे जो उसके आध्यात्मवादी और सूफी दृष्टिकोण की पुष्टि करते हैं।

मलयालम

एक स्वतत्र भाषा के रूप में मलयालम का आरम्भ नौवी शताब्दी मे देखा जा सकता है। 'भाषा कौटिल्यम' के नाम से अर्थशास्त्र पर लिखी गई मलयालम व्याख्या, सभवत बारहवी शती मे प्रकाशित मलयालम की पहली महत्वपूर्ण कृति है यह प्राचीन गद्य का उत्तम नमूना है। तेरहवी–चौदहवीं शताब्दी मे 'चपू ' और 'सदेश काव्य' मलयालम साहित्य के दो समुदाय बन गये। 'चपू ' काव्य मे गद्ययुक्त पद्यमय विवरण होता है, इसका सुंदर उदाहरण ' उनिपादि चरिथम ' और उनयाचिथविथम' है। जिनमें दरबारियों का जीवन वृतात है। ये उस समय की सामाजिक परिस्थितियो को भी प्रस्तुत करते है।

कालिदास कृत 'मेघदूत की शैली मे लिखा 'उन्नीनीली सदेशम्' नामक काव्य उस समय के काव्य सदेश समुदाय का उत्तम उदाहरण है। काव्य सदेश समुदाय का दूसरा उल्लेखनीय ग्रथ 'कोका सदेशम' है। इनके अलावा पद्रहवी सदी मे मलायालम साहित्य मे साहित्यकारो का महत्वपूर्ण समुदाय 'नीरनाम' कवियों के रूप मे है। उन लोगो ने मलयालम साहित्य मे सुधार लाने का प्रयत्न किया साथ ही संस्कृत और तमिल के कठिन शब्दो और वाक्यांशो के अधिक उपयोग को भी समाप्त किया। इस समुदाय के श्रेष्ठ साहित्यकार 'रमापणिक्कर' थे। जिन्होंने विशुद्ध मलायलम में रामायण लिखी। उनकी अन्य रचनाओं में भारतम्, भगवतम् और शिवरात्रि महात्म्यम उल्लेखनीय है। इस युग मे ही रचित 'चेरू सेरी नंबुर्ती' का 'कृष्ण गाथा' अन्य उल्लेखनीय रचना है। माधव पणिक्कर को भगवद् गीता का अनुवाद करने का श्रेय था। 'रामानुजम एजुवचन' मलयायम साहित्य के जनक कहलते हैं। तुलसीदास के रामचरित मानस के समान ही उनका 'आध्यात्म रामायण' अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। उनकी अन्य रचनाओं में 'भगवतम् किलिपट्टू' और 'देवी महात्मयम्' विशेष उल्लेखनीय है।

मराठी

मराठी को साहित्यिक भाषा का रूप बारहवीं सदी मे प्राप्त हुआ। 'मुकुदराजा' मराठी के प्रथम कवि माने जाते है, जिनकी रचना 'विवेक सिन्धु' 1188 की है। सामान्यत ज्ञानेश्वर को मराठी भाषा का जनक माना जाता है। उनकी 'ज्ञानेश्वरी' जिसमे भगवद्गीता के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत किया गया है, मराठी साहित्य की उत्कृष्ट रचना है। भक्ति आंदोलन से संबद्ध नामदेव,

ज्ञानदेव और एकनाथ जैसे कई महान सत और विद्वान थे। ज्ञानदेव की महत्वपूर्ण रचनाएँ 'भावार्थ दीपिका' और 'अनुभवामृत' उनके दार्शनिक विचारो पर आधारित है। 'एकनाथ' ने 1563 मे भगवद्गीता के ग्यारहवे अध्याय का विवेचन प्रस्तुत किया जिसका बहुत महत्व है और ज्ञानेश्वरी के बाद इसी का दूसरा स्थान है। इनकी अन्य रचनाएँ 'रुक्मिनी स्वयबर' और 'भावार्थ रामायण' है। एकनाथ के ही समकालीन ने भगवत्गीता का भाष्य 'गीतार्नव' तैयार किया था, जिसमे एक लाख पच्चीस हजार पद है। इन लेखकों का मुख्य उद्देश्य उन सामान्य लोगो के लिए हिन्दू धर्म और दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत करना था, जो सस्कृत धर्म ग्रंथो को समझाने मे असमर्थ थे तदनुसार उन लोगो ने महाभारत व रामायण जैसे महाकाव्यो को अपने लेखन का मूल आधार बनाया था। मुक्तेश्वर ने महाभारत का सम्पूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किया था वामना पडित ने भगवद्गीता पर भाष्य लिखा था।

कुछ ईसाई धर्म प्रचरको ने भी ईसा का संदेश प्रचार तथा धर्म परिवर्तन कराने के उद्देश्य से मराठी मे लेखन कार्य किया था। ऐसी रचनाओं में फादर स्टेंफेंस की क्रिश्चन पुराण, फ्रांसीसी न्यायविद् फादर 'इतेमेद लाक्रूस' कृत पुराण जिसमे 'सेट पीटर की जीवनी' है। फादर अटोनियो द सलदान्हा द्वारा लिखित सत अन्थोनी की जीवनी उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त उस समय मराठी के कुछ मुसलमान लेखक भी थे। शेख मुहम्मद को हिन्दू धर्म और सिद्धान्तों का काफी ज्ञान था। उनकी रचनाओ मे 'योग अगरामा', 'पवन विजय', 'निश्कलंक बोध' और 'ज्ञान सागर'

मुख्य है। अबर हुसैन ने गीता पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम अबर–हुसैनी रखा था।

उडिया

उडिया की उत्पत्ति आठवी या नौवी सदी मे हो चुकी थी किन्तु चौदहवी शताब्दी से पूर्व कोई उल्लेखनीय रचना नही हुई। चौदहवी शताब्दी मे एक साक्षर सरल दास के द्वारा महाभारत का उडिया–रूपान्तर प्रस्तुत किया गया। ओजमयी भाषा में लिखित इस रूपान्तर को राष्ट्रीय काव्य का दर्जा प्राप्त हुआ था। इसकी भाषा व्याकरण सम्मत नही है और ग्रथ मे ग्राम्य तत्वो की भरमार है, किन्तु इन्ही कारणो से यह काफी लोकप्रिय हुआ था। कुछ समय पश्चात् पच सखा अर्थात् पाच मित्रों की रचनाएँ प्रकाश में आई, जिन्होने सस्कृत के स्थान पर उडिया को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने की शपथ ली थी। ये पाच मित्र बलराम दास, जगन्नाथ दास, अनन्तदास, यशोवत दास और अच्युतानन्द दास थे। उनका मुख्य उद्देश्य अनुवाद और रूपातर द्वारा संस्कृत धर्मग्रथो के तत्वो को जनसाधारण तक पहुँचाना था। बलराम दास ने पहली उडिया रामायण लिखी तथा जगन्नाथ दास ने सरल उडिया मे भागवद् का अनुवाद किया था। चैतन्य का काफी प्रभाव उडीसा मे था, फलस्वरूप उस काल मे वैष्णव काल का विकास हुआ, जिसमे प्रेम और भक्ति पर अधिक बल दिया गया था। दूसरे प्रकार के काव्य मे दरबारी काव्य आते है। जो मुगल विजय के बाद छोटे सामंतों के दरबारी कवियो द्वारा प्रस्तुत किये जाते थे। उपेन्द्र भोज दास इस श्रेणी के श्रेष्ठ कवि थे। पुराणो तथा अन्य महाकाव्यो की कथाओ के आधार पर उन्होने काव्य की रचना की थी। उनकी मुख्य रचना 'लावण्यवती' हैं। जिसका नायक कर्नाटक का राजकुमार

कृष्ण दास, अभिमन्यु, सामत सिहार , कवि सूर्य, बलदेव रथ और गोपाल थे। दीनकृष्ण और अभिमन्यु ने राधा और कृष्ण के आध्यात्मिक प्रेम के सगीतमय गीत लिखने मे श्रेष्ठता प्राप्त की थी। जबकि बलदेव कृत चम्पू उडिया 'गीति नाटिका' का श्रेष्ठतम उदाहरण है। गोपालदास ने सरल भाषा मे सुदर और मधुर गीत लिखे थे, जो आज भी उडीसा के घरो में गाये जाते हैं वह मध्यकालीन भारत के महान कवियो विद्यापति, मीराबाई और चडीदास के समकक्ष रखे जा सकते है।

उडिया का एक मात्र काव्य 'बृजनाथ बदजेना' कृत 'समर तरंग' है। उसमे कवि ने अपने राज्य ढेकानल के लोगो के मराठा आक्रमणकारियो के विरुद्ध शौर्यपूर्ण प्रतिरक्षात्क युद्ध का विवरण प्रस्तुत किया है।

पजाबी

आठवीं से बारहवीं सदी तक पजाबी साहित्य की प्रथम अवस्था थी। इस काल मे ही गुरू गोरखनाथ और उनके शिष्यगण 'चरपतनाथ', 'चौरगी नाथ' और 'रतन नाथ' हुए थे। किन्तु सुविकसित पजाबी साहित्य का प्रमाण रहस्यवादी आध्यात्मिक कवि शेख फरीदुद्दीन गज–ए–शकर (1173–1265) की रचनाओ मे प्राप्त होता है। कई कवियो ने उनका अनुसरण किया, जिनके विषय मे इसके सिवा कोई जानकारी नही है कि वे उन वीर गाथाओ तथा प्रेम काव्यो के रचयिता रहे है, जो आज भी गाए जाते है। ऐसे सामरिक गीतो को वार कहा जाता है , इसमे 'राजकमल के वार', 'मंगज के वार', 'तुंदा असराज के वार' तथा 'सिकन्दर इब्राहिम' वार प्रसिद्ध है पजाबी साहित्य का वास्तविक उत्कर्ष गुरूनानक 1469–1538 के समय मे हुआ। भक्ति भावना से भरी उनकी

आध्यात्मिक कविताएँ ओजपूर्ण थी। गुण और परिमाण मे श्रेष्ठ ऐसी अधिकाश कविताएँ आदि ग्रथ मे सग्रहित है इसके अलावा उन्होने गेय कविताएँ भी लिखी थी, जिन्हे सिक्ख साहित्य मे 'शबद' कहा जाता है। बाद मे पजाबी कविगण 'माधो लाल हुसैन', 'शाह हुसैन', 'सुल्तान बाहु', 'बुल्लेशाह' और अली हैदर थे। पजाबी मे अनेक समर गाथाये लिखी गई। पंजाबी मे अनेक प्रेम कथाये भी लिखी गई थी उनकी विषयवस्तु भारतीय के अलावा अरबी और फारसी स्त्रोतो से प्राप्त की गई थी इनमे से 'युसूफ–जुलेखा', 'शीरी–फरहाद', 'लैला–मजनू', 'महीवाल और सोनी', 'हीर–रांझा', 'ससी–पुन्नू' और 'मिर्जा साहिबान' उललेखनीय है।

तमिल

चोल राजाओं के पतन के साथ ही तमिल साहित्य का गौरवमय काल समाप्त हो गया और उसमें ह्रास आने लगा था। हालाकि बडी संख्या मे रचनाएँ प्रस्तुत की गई थी, किन्तु उनमे गुणात्मकता नहीं थी। तेरहवी सदी के पूर्वाद्ध मे अरूनदी ने 'सिव–नाना–सित्तियार' लिखा जिसमेशैव सिद्धान्तो का विवरण प्रस्तुत किया गया था। चौदहवी सदी के अंत तक दो विख्यात और अद्वैत सिद्धान्त का सग्रह 'सरूपानन्द तत्वारियार' का 'सिव प्रकासप' पेरिदस्तु और कुरूदस्तु का संकलन पूरा किया गया था।

विजय नगर के कृष्णदेव राया के दरबारी कवि 'हरिदास' ने 'इरूसुमाया विलक्कम' लिखा, जिसमें उसने अपने वैषण्ववाद और शैव सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। सस्कृत की सुविख्यात पुस्तक 'कृष्ण मित्र

कृत' 'प्रबोध चन्द्रोदय' का तमिल अनुवाद 'तिरूवेंकयननाथ' ने प्रस्तुत किया था। वैष्णव विद्वानो द्वारा इस युग मे अपने धर्म सिद्धातों पर कई टीकाए लिखी गयी थी। ऐसे विद्वान लेखकों में 'पिल्लई–लोकाचार' (तेरहवी शताब्दी के आरंभ में) और मनावला महामुनि (1360) उल्लेखनीय है। इस युग में संगम रचनाओ पर भी कुछ श्रेष्ठ टीकाएं लिखी गई। जिनमें तल्कापियम् और 'सिलापदिकरम्' मुख्य है। इस युग के मुख्य लेखक 'इलमपुरनार',परसिवियार और 'वेरिमलालयर' थे। अकारकिमिगंडू' एक 'शब्दकोश' था, जिसे सुप्रसिद्ध लेखक चिदंबरा रावण सिद्धार (1594) ने लिखा था। 'पुगलंडी के नलवेबरा (1500) ने नल–दमयन्ती की कथा लिखी थी। विल्ली पुत्तरार ने सपूर्ण महाभारत को तमिल में चार हजार तीन सौ पचास पदों में लिख डाला था। पांड्य नरेश 'तेनकासी' के 'अतिवीर राम' भी श्रेष्ठ कवि थे। उसकी कृति 'नयदादम्' की सराहना कई विद्वानों ने की थी। सियाप्रकाश भी श्रेष्ठ लेखक था, जिसने कई पुस्तकें लिखकर ईसाई धर्म सिद्धातों का खंडन किया था, उन्होने एक कन्नड रचना का, जो शिवावतार माने जाने वाले 'अल्लमदेव'से संबंधित थी, अनुवाद किया था।

तेलगू

तेलगू की प्रथम रचना ग्यारहवीं शताब्दी की है। यह 'चंपू शैली' मे लिखित महाभारत का तेलगू रूपांतर है। जिसका प्रारंभ 'ननाय्या' ने किया, 'तिकान्ना' ने जारी रखा और 'येरापगडा' ने चौदहवीं शताब्दी में समाप्त किया था। तेुलगू साहित्य का आदि रामायण ग्रथ जिसे 'रगनाथ–रामायण' कहा जाता है। 1250 ई0 में 'गोनाबुद्धरेडडी' द्वारा लिखा गया था। 'वीर शैव' के धार्मिक सुधार आदोंलन के प्रसार के फलस्वरूप तेलगू में सहज और सरल

शैली की साहित्यिक रचनाओं की बहुलता हुई। इस प्रसग मे 'वासव–पुराण' और 'पुलकंकी सोमनाथ कृत' पंडित राधे चरित्र' उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। प्रसिद्ध कवि 'नन्हाचोड़'ने कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद किया था। भास्कर कृत 'लीलावती' का अनुवाद 'एलुगटी पेदन्ना' ने किया था। महान कवि श्रीनाथ (1365–1410) ने नैषधकाव्य का तेलगू अनुवाद पूर्ण किया, जबकि विख्यात कवि 'बमारा पोतना' (1420–75) ने 'भागवतम्' का अनुवाद किया था। 'पोतना' की अन्य रचनाओंमें 'भोगिनी दण्डकम्' ओर 'वीरभद्र विजयम्' महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस युग में 'शकुन्तला', प्रबोध चडोदय, 'पंचतत्र' और विष्णु पुराण जैसे कई संस्कृत ग्रन्थों अनुवाद हुआ।
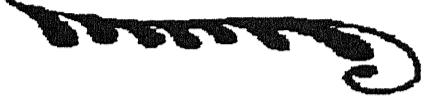
सप्तम अध्याय

सप्तम-अध्याय

कला

चित्रकला

भारत में चित्रकला को साम्राज्यो तथा धार्मिक संस्थानों से आश्रय मिला और प्राचीन काल से ही इस दिशा में अपूर्व प्रगति हुई। दिल्ली के सुल्तानों ने भी इस कला को विशेष प्रोत्साहन व प्रश्रय दिया। उत्तर मध्य काल में संपूर्ण इस्लाम जगत् मे राजकीय कक्षों व भवनो में भित्ति चित्रो का बहुत प्रचलन था। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उन्नीसवीं सदी के बाद के वर्षों मे सर्वप्रथम 'मुहम्मद अब्दुल्ला चगताई' ने यह विचार प्रस्तुत किया कि दिल्ली सल्तनत के काल मे चित्रकला का अस्तित्व था, उन्होंने अपने विचार का समर्थन भारतीय –पर्शियन साहित्यिक ग्रंथों में चित्रकला के सबध में दिए गए विभिन्न उल्लेखों के आधार पर किया।[1] अब्दुल्ला के इस कथन को हरमनगोट्ज ने अपने लेख [2] में भारत की प्रारभिक मुस्लिम कला शैलियों का उल्लेख करते हुए, सल्तनत कालीन चित्रों के अस्तित्व को स्वीकार किया। उसने मालवा और बंगाल मे भी चित्रकला के अस्तित्व को स्वीकारा।

दिल्ली सल्तनत के काल मे भित्ति चित्रों का (दीवारों पर बनाए गए चित्र) का निर्माण हुआ था। समकालीन विद्वान 'ताजुद्दीन रजा' ने लिखा

---

1 चगताई एम0 अब्दुल्ला– पेटिंग ड्यूरिग सल्तनत पीरियड, लाहौर, 1863

2 जार्नल आफ द इण्डियन सोसायटी आफ ओरियेण्टलआर्ट 1947 ई0।

है, ''सुल्तान इल्तुतमिश के शासनकाल में भित्ति–चित्र का प्रयोग दीवारो को सजाने के लिए बडी मात्रा में किया जाता था।'' चौदहवीं शताब्दी में इतिहासकार 'इसामी' ने अपनी पुस्तक 'फुतुह–उस–सालीन' में ताजुद्दीन रजा के विचार की पुष्टि की। लघु चित्र बनाने और पाण्डुलिपियों पर चित्र बनाने की प्रथा भी इस युग में थी। अमीर खुसरो द्वारा रचित खम्सा की पाण्डुलिपि के कुछ पृष्ठ प्राप्त हुए हैं जिन पर चित्र बने हुए है मालवा, जौनपुर, बंगाल और गुजरात में भी ऐसे चित्र बनाए जाने की प्रथा थी।

लघु चित्रकला

बारहवी शताब्दी में सल्तनत युग मे पश्चिमी भारत में गुजरात व मारवाड की महान प्रेरणा से लघुचित्र चित्रकला अस्तित्व में आई। तेरहवी चौदहवी शताब्दी मे यह शैली एक शक्तिशाली आंदोलन के रूप मे विकसित हुई तदुपरांत धनाढ्य जैन व्यापारियों के उदार संरक्षण के माध्यम से यह कला केन्द्रीय, उत्तरी और साथ ही पूर्वी भारत में भी फैल गई। सल्तनत काल मे भारत में ईरानी और भारतीय दोनो प्रकार की चित्रकला की शैलिया विद्यमान थीं। लघुचित्र कला की शैली मिस्र की मामलुक और ईरान की 'इजू' चित्रकला की शैली से मिलते–जुलते हैं। लघुचित्रों मे रंगो के खुले प्रयोग किये जाते थे। इस शैली में 1427 ई0 का शाहनामा और 1438 ई0 की 'रूमी' मथनवी शैली की एक प्रति दिल्ली संग्रहालय मे सग्रहीत है। लघु चित्र शैली में भारतीय मूल की शैली व मूर्तिशिल्प संबंधी विशेषताएं विद्यमान है।

माण्डू, जौनपुर व बंगाल समूह के चित्रकारों का मुख्य विषय लघु चित्रकला ही थी। साथ ही इसी परम्परा में जैन चित्रकारों ने भी चित्रों का

निर्माण किया, जिनका प्रचार–प्रसार राजस्थान में हुआ।

जैन शैली

पश्चिमी भारत, गुजरात, मालवा व राजस्थान मे मुस्लिम आक्रमण के बावजूद पारंपरिक भारतीय लघु – चित्रकला जीवित रही तथा चित्रकला के विकास मे यथेष्ट योगदान दिया। यह कला सामान्यत जैन, गुजरात या पश्चिमी कला शैली के नाम से ज्ञात होती है। इस कला का विकास चालुक्य वंश के जैन राजाओं के संरक्षण में हुआ, जिन्होंने 961 से तीन सदियों तक राजस्थानके कुछ भागों पर शासन किया था। इन्होने ही बडी संख्या में जैन धर्मग्रंथों की सचित्र प्रतिया बनवाई थी। यह कला गुजरात पर 1299 मे मुसलमानो की विजय से समाप्त नहीं हुई, क्योंकि–काठियावाड, आबू और दुर्गापुर के धनी जैन व्यापारियो तथा सरदारो ने कला को अपनी उदारता का आश्रय प्रदान किया था।यह तथ्य उन पांडुलिपियों से स्पष्ट हो जाता है जो बडी संख्या मे पाटन, कांबे और जैसलमेर के जैन पुस्तकालयों में सुरक्षित रखी हुई है। प्रारंभिक जैन पाडुलिपिया ताड– पत्रो पर तैयार की गई है और ये बारहवीं शताब्दी की है इन पांडुलिपियों के ताडपत्र पर होने के कारण चित्रकला और रग का उपयोग तथा रेखांकन की परिधि सीमित हो जाती थी। इनकी सरचना सरल होती थी। गुलाबी, लाल या नीली पृष्ठभूमि पर एक आराध्यदेव तथा दाता की छवि पीले या सफेद या हरी धारियो से अकित कर फलक को पूरा किया जाता था। किन्तु चौदहवी शताब्दी मे कागज उपलब्ध हो जाने पर ये चित्र कई प्रकार के होने लगे थे। पृष्ठ के किनारों को हाथियों व हंसों और पुष्पों के चित्रों द्वारा सुदरता से सजाया जाने लगा था। इसके

अलावा मूलपाठ को यथोचित श्याम या लाल रग की पृष्ठभूमि पर सुन्दर ढंग से लिखने के लिए सोने तथा चांदी का इस्तेमाल खूब होता था। जैसा कि 'इंडियन आर्ट' मे जे0वी0एस0 मिल्किसन ने उल्लेख किया है, "मानव मूर्तियों मे अगो की सुडौलता, नुकीली नाक तथा विशाल नयन, विस्तृत वक्ष तथा क्षीण कटि, पृष्ठ भूमि में प्राकृतिक दृश्य जिसमें विचित्र ढंग के वृक्ष, नदी, बादल आदि सजावट प्रदर्शित होते थे, संभवत. यथार्थ के स्थान पर प्रतीकात्मक थे।" ऐसी अधिकांश सचित्र रचनाएं जैन धर्म व दर्शन की थी। केवल 'बसंत बिहार' जैसी ही कुछ रचनाए जो प्रेमकाव्य था, धर्म निरपेक्ष थीं। ये चित्र सजीव व स्पष्ट थे। जैन चित्रकारी के विषय में मोती चंद ने कहा है– "इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि केवल परिणाम, प्राचुर्य और श्रेष्ठता में भारत की कोई चित्रकारी इसकी समता न करे।"

पुष्पो की सजावट तथा सोने और चांदी के अधिक उपयोग की शुरुआत में जो जैन चित्रकारी की विशेषता बन गई। इन चित्रो की शैली के आधार पर कहा जा सकता है कि संभवत इन पर मामूलक चित्रकारी का प्रभाव था जो चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पद्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के मिस्त्री मामूलक चित्रो और ईरान की 'इंडर' चित्रकला शैली से मिलते–जुलते हैं।

माडू , जौनपुर व बंगाल समूह

चित्रकारी का दूसरा सम्प्रदाय मांडू , जौनपुर और बंगाल में था, जहां "कल्परंग" की पाण्डुलिपि कागज पर तैयार हुई उस पर 15 वीं सदी के उत्तरार्ध मे चित्रकारी हुई थी। इन पाण्डुलिपियों में स्थानीय प्रभाव के अनुसार मुख मुद्रा की अभिव्यक्ति तथा रीतियों की भिन्नता है। कुछ तिथि

युक्त पाण्डुलिपियो माडू और (दिल्ली) आगरा प्रदेशो से और हाल ही मे एक पाण्डुलिपि बगाल से प्राप्त हुई है। मांडू में कम से कम चार अन्य अद्भुत पाण्डुलिपिया प्राप्त हुई है, इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण और रोचक पाण्डुलिपि 'नियामतनामा' है जो पाक शास्त्र पर एक ग्रन्थ है। इस पाण्डुलिपि की पुष्पिका में गयासुद्दीन खिलजी के पुत्र नासिरुद्दीन खिलजी का उल्लेख है। जिसके व्यक्ति चित्रों का अनेक लघु चित्रो के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जैन लघु चित्रकला के क्षेत्र में मांडू एक बहुत व्यापक कलात्मक कला शैली का केन्द्र बिंदु था।

'नियामत नामा' के चित्रांकनों से समकालीन इरानी शैली के साथ इसके साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्व होने और मालवा की इस चित्रकला की शैली विकसित एव सुरुचि पूर्ण कलात्मक परम्परा का पता चलता है। इन चित्रो की रंग योजना बड़ी चटकीली व जीवन्त है। इन चित्रो में चित्रित बेल–बूटे बडे समृद्व और ताजगी लिए हुए है और मानव आकृतियां बडी ही स्वाभाविक एवं सौष्ठव पूर्ण है। इस पाण्डुलिपि के लघु चित्रों से मांडू दरबार की अहलाद् उन्मुक्कता साफ झलकती है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें 'मिफता उल–हक फुजाला' नामक एक अन्य पांडुलिपि में भी देखने को मिलती है। यह मांडू मे तैयार किया गया दुर्लभ शब्दों का एक शब्दकोश है। 1502 में हाजी महमूद नामक एक व्यक्ति द्वारा मांडू में चित्रित 'वोस्तान' पाण्डुलिपि मे इससे मिली प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इस पाण्डुलिपि के चित्र समकालीन ईरानी शैली से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। साइमन डिग्बी ने यान्त्रिकी तरीकों का उल्लेख करने वाली एक अन्य पाण्डुलिपि 'अजैब उस–सनाती'

का उल्लेख किया है। इसे सन् 1508 मे माडू मे चित्रित किया गया। परन्तु सन् 1976 मे कलात्मक वस्तुओ की नीलामी के समय ब्रिटिश सग्रहालय लंदन द्वारा खरीद किये जाने तक इसे कोई देख नही पाया था। हाल ही में राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली द्वारा 'अनवार–ए–सुदे्ली' नामक पाण्डुलिपि को उपलब्ध किया गया है। इस पाण्डुलिपि को इसी समूह में शामिल किया जा सकता है। इस ग्रन्थ के लघु चित्र निम्न कोटि के है और 'नियामतनामा' की शैली से भिन्न शैली के है। कुछ विद्वानों ने इन्हें दिल्ली–आगरा प्रदेश के अर्धशाही समूह का बताया है।

15 वी शताब्दी में जौनपुर समृद्व साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया था। जौनपुर के शासको ने कला, स्थापात्य और सगीत को समान प्रोत्साहन प्रदान किया। इस नगर को 'दाक–उल–अमन' या कला की शरणस्थली कहा जाने लगा। जहा कुतबन ने अवधी में सुल्तान हुसैन शाहशर्की (1458–96) के शासनकाल मे 'मृगावती' नामक प्रणय काव्य की रचना की। हाल ही मे 1501 में जौनपुर में लिखी गयी फारसी की एक पाण्डुलिपि का पता चला है। इसके लघु चित्रोंमें प्रान्तीय ईरानी तरीके के कुछ प्रभावहीन रूपो को प्रदर्शित किया गया है। कुछ वर्षो पूर्व जौनपुर की एक अन्य पाण्डुलिपि के एक लघुचित्र को प्रकाशित किया गया। हाल ही के वर्षो में जिन पाण्डुलिपियों का पता चला है उसमें पश्चिमी जर्मनी के डबिंगेन स्टेट पुस्तकालय में संग्रहीत 'हज्मनामा' विभिन्न यूरोपीय एवं अमेरिका कला संग्रहो मे संग्रहीत खम्सा–ए–अमीर खुसरो जैन लघु चित्र कला मे चित्रित है।

राजस्थान व उडीसा

इस युग मे राजस्थान चित्रकारी का दूसरा प्रधान केन्द्र था। तथा यह मेवाड के देवकुल वाटिका मे (1422–23) मे कागज पर रचित 'सुप सनेहचरित्रम्' नामक सुन्दर पाण्डुलिपि से स्पष्ट हो जाता है। इसमें से सैतीस चित्र दिये गये है। गुजरात शैली राजस्थानी कला को 1583 तक प्रभावित करती रही, जिसके बाद उसमें परिवर्तन आया, जो कि यथार्थवादी सरंचना तथा बदलते हुए पहनावो के चित्रण से स्पष्ट है। अन्ततोगत्वा इसी से नई शैली का जन्म हुआ, जिसे राजस्थानी शैली की कला का नाम दिया गया। यहां उडीसा शैली भी उल्लेखनीय है, जिसका आरम्भ 15 वी शताब्दी के अन्त में हुआ था। [1] उडीसा चित्र कला की तकनीक बगाल या पश्चिम भारत से एकदम भिन्न प्रकार की थी। ताडपत्र पर चित्र की रूपरेखा तीक्ष्ण कलम से बनायी जाती है और कटानो को स्याही या शुष्क कोयला चूर्ण से भरा जाता था।

दक्षिण भारत की चित्रकला

दक्षिण मे प्राचीन भारतीय चित्रकला अब भी कई स्थानों पर उपलब्ध है। इनमे सित्तानवासल में (पुडकोहा के निकट) आठवी सदी की चित्रकारी तजौर मे वर्चदीश्वर मंदिर और त्रिपुरतकम् तथा पिल्लालमारी मन्दिरों के मण्डप दर्शनीय हैं। दक्षिण भारत की मध्यकालीन चित्रकला समय के प्रभाव तथा मूर्तिभंजको दोनो से सुरक्षित रही है क्योंकि ये मन्दिरो और भवनो मे एकान्त स्थानों पर बनी है जहां आक्रमणकारियो की नजर जा नही

---

1 Five thousand year of Arts and crops in India and Pakistan - Shanthiswaroop.

पाई। तजौर मे प्राप्त चित्रकारी आश्चर्य जनक है सम्पूर्ण छत और दीवारे, चोलकालीन सुन्दर चित्रकारी से भरी है। (9 वी शताब्दी से 13 वी सदी तक) देखने वालो पर ये चित्र अपनी सुन्दरता और सौष्ठव की अमिट छाप छोडते है। त्रिपुरतकम् में वारंगल के कातिया की चित्रकारी (11 वीं 13 वीं सदी) तथा पिल्लालमारी के चित्रों में भी प्राचीन भारतीय शैली के ही दर्शन होते है, किन्तु पश्चिमी भारतीय शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इनमें कोणात्मक मुखमुद्रा, तीखी नाक और उन्नमुक्तनयन ध्यान देने योग्य हैं। चौदहवीं शताब्दी से ही विजय नगर की चित्रकारी चोल और पाण्ड्य परम्परा के ही क्रम मे है। इस युग के असंख्य चित्र है जो अनेक गुण्डी, तडपत्री, कांचीपुरम, कलशास्त्री, तिरूवन्नमलाई, चिंदांवरम्, कुम्बकोनम् तथा श्रीरंगम् जैसे स्थानों मे उपलब्ध है। इनमे एक विशिष्ट चित्रकारी 'लिपाक्षी' (1538) में है। इसमें महाभारत, रामायण और पुराणों के दृश्य चित्रित किये गये हैं। इन चित्रों की श्रेष्ठता से चित्रकार की निपुणता तथा रंग भरने के अपूर्व कौशल का पता चलता है।

सल्तनतकालीन चित्रकारी

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रारम्भ के मुसलिम शासक अपने शासन की स्मृतिस्वरूप प्रभावोत्पादक भवन छोड गये है, किन्तु सल्तनत काल मे दरबारी चित्रकारिता का शायद ही कोई कोई नमूना उपलब्ध है। किन्तु इतना निश्चित है कि मुसलिमों के साथ आयी एक नयी संस्कृति ने परम्परागत भारतीय शैली को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। तथा तथ्य इस युग की कुछ छिटपुट रचनाओं से स्पष्ट है। ऐसी पाण्डुलिपियों

'अमीर खुसरो देहलवी' की ऐतिहासिक कविताओं और फिरदौसी के महाकाव्य से लेकर मुसलिम विजेताओ के शौर्य की लोकगाथाओ और पाकशास्त्र की पुस्तकों तक मे फैली हुयी है।इनके चित्रो उदाहरणार्थ खुसरो के पुस्तको मे दृश्यो का चित्रण सरल ढंग से है किन्तु रग प्रभावकारी और आकर्षक है। इसमे विदेशी कलापूर्ण ढग भी अपनाये गये हैं किन्तु उन्हे भारतीय रूप में संवार कर प्रस्तुत किया गया है।

हरमन गोज ने अपनी मशहूर पुस्तक 'इण्डिया फाइव थाउजेड इयर्स आफ इण्डियन आर्ट' में ऐसी कई सचित्र हस्तलिपियों का उल्लेख किया है जो उस काल में प्रान्तीय सुल्तानों के यहा तैयार की गयी थी। अवधी हिन्दी में लिखित एक हिन्दू प्रेमाख्यान 'लोर चन्दा' सम्भवत जौनपुर के हुसैन शरकी (1458–79) के राज्यकाल मे तैयार किया गया था। इसमे फारसी और राजपूत दोनों शैलियों का प्रभाव स्पष्ट हैं। इस युग की चित्रकला के प्रसिद्व नमूनों मे सुल्तान फिरोजशाह का चित्र, (1533) विजयनगर और तुर्की शैलियों के मिश्रित रूप से तैयार की गयी बीकानेर की रंगमाला लघु चित्रावली, अहमदनगर की एक हस्तलिपि 'तारीक–ए–हुसैन–शाही' कुमतागी के फारसी हिन्दी अभिलेखो, पटना (1550) की तैमूरी फारसी हतीफी पाण्डुलिपिया उल्लेखनीय हैं।

मुगल चित्रकारी

कला में परम्परागत भारतीय व फारसी मुगलों का समागम का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। तभी मुगलों का आगमन यहाँ पर हुआ, वे अपने साथ ही कला की नयी परम्परा लाये जिसमें फारस में महान कलाकार बिंहजांद (15 वीं शताब्दी) मे विकसित किया गया था। फारसी कला पर

मगोल कला का बहुत प्रभाव तथा, यह तथ्य तैमूर कालीन और पूर्व तुर्की युगीन चित्रकारी से स्पष्ट हो जाता है। बिहजाद ने मध्य एशिया और फारस दोनों की महान परम्पराओं का सन्तुलित समन्वय किया था, जो बाद मे उनके शिष्यो द्वारा भारत मे लायी गयी थी। उसी के शिष्यो को प्रारम्भिक मुगल शासको के यहा दरबारी चित्रकार के रूप मे रखा गया था। इस प्रकार की विकसित चित्रकला के लिये शांतिस्वरूप ने अपनी पुस्तक में कहा है 'ये सजीव रंगो द्वारा उत्कीर्ण सुन्दर सजावट तथा खोजपूर्ण सुडौल लिखावट के लिए उल्लेखनीय है।' उस समय प्रकृति चित्रण पर विशेष ध्यान दिया जाता था इनमें प्रकृति के सम्रग सौन्दर्य को पुष्पो, वृक्षों, पर्वतो, बादल और पशु पक्षियो के माध्यमसे चित्रित किया जाता था। उस समय मे यह शैली पांडुलिपि सज्जा के लिये अधिक उपयुक्त थी।

राजपूत चित्रकारी

राजपूत चित्रकारी को दो समूहो में विभाजित किया जा सकता है। राजस्थानी और पहाडी। जैसा कि इसके नाम से सकेत मिलता है। राजस्थानी समूह जिसे बहु या जयपुरीकलम भी कहते है। सम्पूर्ण राजस्थान राज्य और बुन्देलखण्ड इलाके मे प्रचलित होने वाली शैली है। इस चित्रकारी के मुख्य केन्द्र जयपुर, बीकानेर और उदयपुर के भूतपूर्व राजपूत दरबार थे। दूसरा समूह जो पहाडी कलम कहलाता है, बहुत बडे क्षेत्र में विकसित हुआ था, इसमें सिवालिक पहाडी के चतुर्दिक स्थित स्थान पूच, जम्मू, बशोली, नूरपुर, कागडा, हरिपुर गुलेर तथा मध्यवर्ती हिमालय के स्थान रामनगर, भडरवा, चम्बा, कुल्लु और टेहरी गढवाल शामिल थे। इस समूह के मुख्य

केन्द्र बशोली जम्मू, नूरपुर, कागडा और चम्बा के राजदरबार थे। चित्रकारी का सिक्ख स्कूल, इसी पहाडी स्कूल की शाखा है। रेने ग्राउजेट ने अपनी पुस्तक में राजपूत व मुगल चित्रकारी मे अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मुगल चित्रकारी सरकारी प्रकार की दरबारी कला है, जिसमे दरबार और ऐतिहासिक दृश्यो की बहुलता है, तकनीकी के मामले में यह लघुचित्रो की चित्रकारी में विशिष्ट है, जिसके साथ इसकी उत्पत्ति हुई थी। यह पाण्डुलिपियो के चित्रण और फारसी सुलेखों की सुन्दर रेखाओं से विकसित हुई।" किन्तु इसके विपरीत राजपूत शैली देश की मिट्टी की उपज थी। इसकी तकनीकी लघु चित्रो से नहीं बल्कि मित्ति चित्रों से विकसित हुई। वास्तव में इस शैली का उद्मव अजता और बाघा की प्राचीन तथा महान कला में था जो पन्द्रहवी सदी की गुजराती शैली की जैन पण्डुलिपियों से विकसित हो कर आयी थी। इसने मुगल कला की विशिष्टताओ को भी ग्रहण कर लिया। इसकी आकृतियां समकालीन मुगल परिधानो से युक्त होती थी। इस युग की ज्ञात प्रारम्भिक स्थापना 'सवग पदिकामन सत्र चुनी' सम्भवतः 1260 में अघाता जिले (उदयपुर) में चित्रित की गयी। राजस्थानी कलाकार दक्षिण की चित्रकला परम्परा के अनुसार भावनात्मक व सहज अभिव्यक्ति पर विशेष ध्यान देते थे। मेवाड के शासको के सरंक्षण मे राजपूत चित्रकला चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई थी।

इस शैली के अन्तर्गत चित्रकारी के अन्य केन्द्र मारवाड, जोधपुर, बूदी, मालवा, किशनगढ व जयपुर में थे। मारवाड ने मुगल परम्परा ग्रहण कर लिया था। जोधपुर की चित्रकला राजस्थानी व मुगल

दोनो का मिश्रित रूप थी। माधोदास रचित 'रगमाला' के चित्र इस (राजस्थानी) स्कूल के उदाहरण है।

पहाडी चित्रकारी

पहाडी चित्रकारी या पर्वतीय चित्रकला पंजाब के पहाडी प्रदेश मे विकसित हुई, थी विशेष कर बसोली, जम्मू, नूरपुर, कांगडा, गुलेर और चम्बा इसके मुख्य केन्द्र था। इस शैली के अधिकांश चित्र भक्ति मार्ग के सन्तो के विनय गीत की प्ररेणा रही है। इनकी चित्रकारी का मुख्य विषय प्रेम था, जिसे प्रेमी कृष्ण और प्रेमिका राधा के द्वारा ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दी जाती थी।

कांगडा चित्रकारी

उत्तर भारत पर नादिर शाह के आक्रमण तथा दिल्ली विजय ने जर्जर मुगल साम्राज्य को नष्टप्राय कर दिया फलस्वरूप मुगल शैली में प्रशिक्षित सभी कलाकार बडी सख्या मे पहाडो पर चले गये, जिससे वहां की शैली में बडा परिर्वतन आया। उनकी चित्रकारी यथार्थ व प्रकृति के प्रति आग्रह का तथा उनकी रंग रचना सरल व मनोहर थी। यह नयी चित्रकारी जिसने प्राय: सभी राज्यों को प्रभावित किया 'कांगडा' चित्रकला के नाम से प्रसिद्व हुई। इसके अतिरिक्त जम्मू व गढवाल चित्रकला के अन्य समुदाय है, जिनमें तत्कालीन युग में चित्रकारी की जाती थी। सजावट के सूक्ष्म रूपांकन तथा सौन्दर्य और प्रकृति प्रेम के लिए सभी राजपूत शैलियों में गढवाल चित्रकारी श्रेष्ठ है।

दक्षिणी चित्रकला

बहमनी सम्प्रदाय के विघटन के पश्चात्, दकन सुल्तानो ने भी मुगल परम्परा से अलग चित्रकला की अपनी शैली विकसित की। इस गतिशील और परिष्कृत शैली ने मुगल शैली को भी योगदान दिया। दकनी सम्प्रदाय को प्रारम्भिक चित्रों में फारसी का प्रभाव दिखता है। इसमें प्राकृतिक दृश्य तथा सजावटी तत्व फारसी का बोध देते है, जबकि पहनावे में उत्तर भारत या मालवा शैली की कला का प्रभाव है। विजय नगर साम्राज्य के बाद स्वदेशी प्रभाव अधिक स्पष्ट हो गया क्योंकि कई नये कलाकार सुल्तानों के यहा व्यवसाय के लिए आ गये तथा उन्होंने कला में फारसी, तुर्की और स्वदेशी सांमजस्य को विकसित किया। शैलियों का यह समन्वय आठ सौ छिहत्तर चित्रो से युक्त सोलहवी सदी के 'नज्म–अल–उल्म' और 'ताली कोटा' के युद्व विवरण (1565) की पुस्तक 'तारीफ–ए–हुसैनशाही' (1565) के चित्रों से स्पष्ट है। इसी पुस्तक में हुसैन निजामशाही के भी कुछ चित्र दिये गये हैं। बीजापुर इस शैली का प्रथम केन्द्र था। इस शैली के महान संरक्षक बीजापुर में अली आदिल शाह और उनके उत्तराधिकारी इब्राहिम द्वितीय थे। सगीत की भिन्न विद्या को प्रदर्शित करने वाली रंगमाला चित्रकारी, जो बीजापुर, गोलकुंडा और अहमद नगर में तैयार की गयी थी, इस समूह की श्रेष्ठ रचना है।

स्थापत्य कला

सल्तनत युग मे विभिन्न ललित–कलाओं में से मुख्तयाः स्थापत्य कला का विशेष विकास हुआ। अन्य क्षेत्रो की तरह स्थापत्य कला के मामले में

भवन निर्माण आदि में स्वदेशी तथा इस्लामी सिद्वान्तो मे मौलिक अन्तर थे। भारत मे पहले ही स्थापत्य कला की एक शैली विकसित हो चुकी थी, जिसकी सुगठित गरिमा दक्षिण के मन्दिरों मे प्रत्यक्ष है। इस स्थापत्य की अन्य विशेषता शिल्प सौष्ठव तथा अंलकृत पद्धति और विषयो का वैभिन्न्य है।

इस्लामी स्थापत्य कला की मुख्य विशेषताओं को कठोरता तथा सादगी, सामग्रियो के उपयोग में मितव्ययिता और क्रमबद्व निर्माण साफ दिखते है,जो हिन्दू कला की गरिमा व श्रेष्ठता से स्पष्ट तथा भिन्न थे। हिन्दू स्थापत्य एकत्र रूप से प्रभावित करते है, जबकि मुसलमानी भवनों का विस्तार प्रभावोत्पादक है। पहले में सुदृढता की श्रेष्ठता है तो दूसरे में सौन्दर्य की। हिन्दुओं में भावना और कल्पना थी, जबकि मुसलमानों मे पसद और आत्मसयम। हिन्दुओं मे अपने भवनो के निर्माण में असंख्य प्रतिमाओं का उपयोग किया था जिससे वे भवन मूर्ति कला के नमूने प्रतीत होते है, जबकि मुसलमानों ने मूर्ति को निषेध कर फूल–पत्तियों या ज्यामित्ति के रूपाकनो से इमारतो की सजावट की थे हिन्दू भारत के मध्यकालीन गोथिक मूर्तिकला के शिल्पी रहे थे जबकि मुसलमान नवयुग में शामिल होने वाले बाहरी कलाकार थे।

हिन्दू कलाकारों ने उस पराम्परागत शैली को ही अपनाये रखा जिसकी उत्पत्ति प्राचीन काल की काष्ठ संरचनाओ मे हुई थी, जबकि मुसलमान वास्तुकारो ने निर्माण की नयी शैली और सिद्वान्तो को लेकर प्रयोग किया। भारत के स्वदेशी स्थापत्य सामान्यतः दो सतम्भो के मध्य विस्तार को शहतीरों द्वारा अनुप्रस्थ रूपमें काटा जाता था। मुसलमानों ने दो स्तम्भों या दीवारों के मध्य मेहराब बनाने की तकनीकि चलायी, जिसे उन्होंने रोमवासियों

से सीखा था। हिन्दुओ के भवन पिरामिड अकार के सपाट या शक्वाकार छतों वाले होते थे। मुसलमानो ने गुम्बद और मेहराब की शुरूआत की । पत्थरो के उपयोग में हिन्दु कारीगर बेजोड थे, जिसका परिचय उन्होने मन्दिरो के निर्माण में दिया था, भारतीय कारीगर चूने का उपयोग बहुत कम करते थे वे पत्थरो को लोहे अंकुशो से जकड दिया करते थे। किन्तु मुसलमानो ने ईट व गिट्टी का प्रयोग भवन निर्माण में किया। सल्तनत कालीन भवनों में दोनो कलाकारों की कला का अद्भुत समन्वय परिलक्षित होती है। सुविधा की दृष्टि से उस समय की स्थापात्य कला को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है।

दिल्ली अथवा शाही स्थापात्य कला

जिसका विकास दिल्ली के सुल्तानो के संरक्षण में हुआ और जिसमे वे सभी इमारते सम्मिलित की जाती हैं, जिनका निर्माण सुल्तानों ने विभिन्न स्थानो पर कराया, इसी प्रकार की श्रेणी में काश्मीर के शासक रिंचन द्वारा बसाये गये नगर 'रिंचन नगर' को प्रमाण माना जा सकता है जिसका निर्माण राजा ने मध्य युग की स्थापात्य कला के आधार पर कराया।[1] कुतुबद्दीन ऐबक ने दिल्ली मे रायपिथौरा के किले के निकट 'कुव्वात–उल–इस्लाम' नाम की मजिस्द (1197) तथा अजमेर में 'ढाई दिन का झोपडा' के नाम से विख्यात अजमेर की मजिस्द (1200) का निर्माण कराया। इल्तुतमिश ने इसमें सात मेहराबे बनवाई जो मुस्लिम कला का प्रतीक होते हुए भी, हिन्दू निर्माण पद्वति का परिचय देती है। इन दोनो मजिस्दो में से पहली मन्दिर के स्थान पर और दूसरी सस्कृत विद्यालय के स्थान पर निर्मित करायी गयी थी अत. इसमे हिन्दू

1 परिखाच्छलतोऽकीर्त्या स्वपरापजातया।
परितोवलित राजा स्वनामाकपुर व्यधात्।।
जोनराजकृत राजतरगिणी (215)

व मुस्लिम कला का सामंजस्य दिखायी देता है। 'कुतुबमीनार' की मूल योजना इस्लामी है। आरम्भ मे इसका प्रयोग 'अजान' (नमाज के लिए बुलाना) के लिए किया जाता था परन्तु बाद मे कीर्ति स्तम्भ के रूप में माना गया। कुतुबद्दीन द्वारा इसका निर्माण (1197) मे आरम्भ मे आरम्भ किया गया जो इल्तुतमिश के द्वारा (1232) मे पूर्ण हुआ।

इल्तुतमिश ने 225 फीट ऊंची चार मजिला बनवाया फीरोज तुगलक के समय मे बिजली गिर जाने से इसकी चौथी मंजिल नष्ट हो गयी तब उसने इस पर दो छोटी मंजिले बनवा दी जिससे यह पांच मंजिली हो गयी 234 फीट ऊंची इस मीनार की ऊंचाई भव्य है इस युग की सबसे महत्वपूर्ण अंलकृत इमारतो में लाल बलुआ पत्थरों से निर्मित' 'इल्तुतमिश का मकबरा' है इसके अतिरिक्त इल्तुतमिश ने 'होज–ए–शमसी', 'शमसी ईदगाह' बदायू की 'जामा मजिसद' और नागौर (आधुनिक जोधपुर) का 'अतरकीन' का दरवाजा बनवाया। बलवन ने अपना स्वयं का मकबरा 'लाल महल' बनवाया जो इस्लामी कला का श्रेष्ठ नूमना है।

अलाउद्दीन खलजी

एक महान निर्माता था और उसके पास आर्थिक साधन भी थे। उसके समय मे वास्तुकला का तीव्र गति से विकास हुआ उसकी इमारते पूर्णतया इस्लामी विचार धारा के अनुकूल बनायी गयी थी और कला की दृष्टि से श्रेष्ठ है। यद्यपि उसका विचार कुतुबमीनार से ऊंची मीनार बनवाने का था और उसने इसका निर्माता कार्य प्रारम्भ भी कर दिया थ। 1311 में और पहली मजिल के 75 फीट निर्माण के साथ 1316 मे उसकी मृत्यु हो गयी और कार्य

अधूरा ही रह गया। इसके अतिरिक्त उसने 'सीरी का नगर बसाया', उसने 'हजार स्तम्भों वाला महल' निजामुद्दीन औलिया की दरगाहमे 'जमैपत खाना मजिस्द' और कुतुब मीनार के निकट 'अलाई दरवाजा' बनवाया जो इस्लामी कला के सुन्दरतम नमूने है। मार्शल ने लिखा है कि "अलाई दरवाजा इस्लामी स्थापात्य कला के खजाने का सबसे सुन्दर हीरा है"। इसी शैली के आधार पर 'जैनुल आबदीन' जो कि मध्य युग में काश्मीर का शासक था ने कई सुन्दर शहरों का निर्माण कराया। [1]

तुगलक शासकों की इमारतें इतनी भव्य न बन सकीं, सम्भवत इसके पीछे उनकी आर्थिक कठिनाई थी। इस काल की सर्वोतम इमारत तुगलका बाद मे स्थित गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा और उसका महल है। उसके महल के बारे में प्रसिद्ध है कि वह सूर्य की रोशनी में इतना चमकता था कि कोई भी उसके टकटकी लगाकर नही देख सकता था। परन्तु दुर्बल होने के कारण से शीघ्र ही नष्ट हो गयी। मोहम्मद तुगलक ने 'जहांपनाह' नामक नगर दिल्ली के निकट बसाया, तुगलकाबाद के निकट 'आदिलाबाद का किला' बनवाया। इसके अतिरिक्त अन्य इमारते बनवाई जिनमें 'सथपलाह बांध' और 'बिजायी मण्डल' नामक दो इमारतों के अवशेष प्राप्त होते है। फिरोज तुगलक ने बहुत निर्माण कराया उसमे 'फिरोज शाह कोटला' का नगर और 'किला' दिल्ली मे 'हौज–खास' निकट स्वय का मकबरा बनवाया। उसके पुत्र खाने जहा जनाशाह ने 'खानेजहा तिलगानी का मकबरा'। उसके निकट काली

---

1 क नगराधिकृत काचडामरो दुस्तरेपथि।
क्रोशमात्र व्यधातसेतु नगरान्त शिलामयम्।। जोनराज कृत राजतरंगिणी (807)
ख हिमाचलशिखादर्पच्छेदिप्रासादमेदुरम्।
क्रमराज्ये स्फुरद्राज्य सुरत्राणपुर व्यधात्।। वही (947)

मस्जिद, जहापनाह मे 'खिरकी मस्जिद' बनवायी। नसीरूद्दीन मोहम्मद तुगलक के समय मे बनी हुई एक भव्य इमारत 'कबीरुद्दीन औलिया' की कब्र पर बना हुआ मकबरा 'लाल गुम्बद' भी है। सैयद और लोदी शाह शासको के समय मे बनी हुई मुख्य इमारतों में से 'मुबारक शाह सैयद', मुहम्मद शाह सैयद और सुल्तान सिकन्दर लोदी के मकबरे तथा सिकन्दर लोदी के प्रधानमंत्री द्वारा बनवायी गयी दिल्ली की 'मोठ मस्जिद' है।

उपर्युक्त इमारतों में से अधिकाश इमारते मुख्यतः नगर, किले, महल नष्ट हो गये हैं परन्तु मकबरे, मस्जिदे व मीनारें अब भी है। ये कला अद्वितीय तो नहीं परन्तु सल्तनत काल के पर्याप्त अच्छे नमूने माने जा सकते हैं। कला की दृष्टि से इनमे कुतुबमीनार और अलाई दरवाजा का प्रमुख स्थान है। इनके अतिरिक्त काश्मीर की स्थापत्य कला भी मध्य युग के वस्तु कला का बेजोड नमूना है, जिसका वर्णन जोनराज ने राजतंरगिणी मे किया है। वहा के शासको मे रिचन व जैनुल आबदीन ने अनेक नये नगरों ,किलों, मन्दिरों, मठों, नहरों, पुलों धर्मशालाओ आदि का निर्माण कराया। जो हिन्दू व सल्तनत कालीन स्थापत्य कला के समन्वय का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हिन्दू राजाओं के पश्चात् विदेशी शासक रिंचन ने अपने नाम पर 'रिंचनपुरनगर' आबाद किया। मुस्लिम सुल्तानो मे शहाबुद्दीन के बाद जैनुल आब दीन ने जैनपुरी, सुरत्राणपुर, सफलानगर, जैन नगरी, जैन गिरी, जैनसेतु आदि का निर्माण कराया। [1]

स्थानीय स्थापत्य कला या प्रान्तीय कला

विभिन्न प्रान्तो में विभिन्न मुसलमान शासको ने भी महलों,

1 जोनराजकृत राजतरगिणी – 215, 864, 867, 872, 887–888, 947

किलो मस्जिदो और मकबरों का निर्माण कराया। मूल आधार पर उनकी इमारते भी दिल्ली अथवा शाही स्थापात्य कला की भाति थी, परन्तु क्योकि उनके साधन सीमित थे अत वे दिल्ली सुल्तानो की समता मे इमारते नही बनवा सके, इसके अतिरिक्त उनकी स्थानीय परिस्थितियो ने भी इमारतों को भिन्न स्वरूप प्रदान किया।

मुल्तान–मुल्तान मे बनवाई गई इमारतों मे 'शाह यूसुफ–उल–गर्दिजी' बहौल–हक–शम्सुद्दीन और 'रूक्बे–आलम' के मकबरे हैं। इनमें 'रक्बे आलम' का मकबरा सबसे शानदार है।

बंगाल– बंगाल में बनी इमारते बहुत श्रेष्ठ नही बन सकीं उनमे अधिकांशत ईटो का प्रयोग किया गया था। इनमें सुल्तान सिकन्दरशाह द्वारा बनवायी गयी, 'अदीना मस्जिद' गौड का 'दरसवारी का मकबरा', पांडुवा का 'एकलाखी मकबरा', गौड की 'लोटन मस्जिद', 'सोना मस्जिद', देवी कोट का 'रूक्नखां का मकबरा', खुलना जिले की 'सात गुम्बद मजिस्द' नुसरतशाह का बनवाया गौड का ' कदम रसूल का मकबरा', गौड का 'दाखिला दरवाजा' और पांडुआ में बना जलालुद्दीलन मोहम्मद का मकबरा मुख्य है। खम्भों पर नुकीली मेहराबों का प्रयोग, हिन्दू, प्रतीकों का प्रयोग और हिन्दू चक्र रेखाओ का इस्लामी स्वरूप प्रदान करना बगाल की स्थापत्य कला की मुख्य विशेषताएँ रहीं।

जौनपुर– शर्की शासकों ने स्थापत्य कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। उनकी कला में हिन्दू तथा इस्लामी शैलियो का अच्छा समन्वय है।

चौकोर स्तम्भ, छोटी दहलीजे और मीनारो का अभाव इस कला की मुख्य विशेषता रही। इनमे 'इब्राहीम नाइब बारबक का महल' और 'किला' मुख्य है। इसके अतिरिक्त इब्राहीम शाही शर्की ने 'अटाला मजिस्द' को पूर्ण किया, उसी ने 'झाझारी मस्जिद' को बनवाया, हुसैन शाह ने 'जामी मस्जिद' और 'लाल दरवाजा मस्जिद' बनवायी।

मालवा— यहा बनी हुई इमारतों में 'कमान मौला मस्जिद', 'दिलावर खा मस्जिद' और माडू का 'मलिक मुगीस का मकबरा' है। यहां की श्रेष्ठ रचना 'मांडू का किला' और उसके अन्दर बनी हुई विभिन्न इमारते हैं। 'जामा मस्जिद', 'हिण्डोला महल', 'अशर्फी महल' सात मंजिल का महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया 'विजय स्तम्भ' 'सुल्तान हुसंग शाह का मकबरा', 'जहाज महल', बाज बहादुर तथा रानी रूपमति के महल' मालवा की श्रेष्ठ इमारते है। ये अन्दर से सुन्दर ढंग से बनी हुई है। इसी कारण 'मांडू के किले' को सुरक्षित नगरों का सुन्दर नगर माना गया।

गुजरात— गुजरात में हिन्दू तथा मुस्लिम कला का सबसे सुन्दर समन्वय हुआ और वहां बहुत सुन्दर भवनों का निर्माण हुआ। डा. सरस्वती ने लिखा है, गुजरात की स्थापत्य कला की मुख्य विशेषता का कारण यह था कि वह अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानीय कला और उससे भिन्न इस्लाम के संरक्षण का परिणाम थी। काम्बे की 'जामा मस्जिद' उसी मे बना 'अहमद शाह का मकबरा', 'हैबत खा' और 'सैयद आजम के मकबरे', तीन दरवाजा, 'रानी का हजुरा', 'दरिया खा और 'अलिफ खां' के मकबरे' प्रमुख है। इसके अतिरिक्त

महमूद बेगडा ने तीन नवीन नगर बसाये और चम्पानेर के नगर मे अनेक सुन्दर इमारते बनवायी। महमूद बेगडा के समय मे स्थापत्य कला मे कुछ नवीन तथ्य शामिल किये गये।

कश्मीर—कश्मीर में हिन्दू और मुसलमान स्थापत्य कला का समन्वय देखने को मिलता है। 'मदनी का मकबरा' श्री नगर की जामा मस्जिद और 'शाह हमदान थी मस्जिद' इस समय की मुख्य इमारते है।

बहमनी— बहमनी अथवा उसके खण्डो से बने हुए मुसलमानी इमारते बनवायी जिनमे हिन्दू और मुसलिम स्थापत्य कला का अच्छा मिश्रण है। इनमें 'गुलबर्गा' और बीदर की मस्जिदे, "मोहम्मद आदिल शाह का मकबरा" जो 'गोल गुम्बद' के नाम से विख्यात है। दौलताबाद की चार मीनार और बीदर का 'महमूद गंवा का विद्यालय' प्रमुख माने गये।

हिन्दू स्थापत्य कला

हिन्दू स्थापत्य कला के नमूने की इमारते हमें मुख्यतः तथा राजस्थान व काश्मीर में प्राप्त होती है हिन्दू अपनी कला को मन्दिरों, महलो के रूप मे परिलक्षित कराते है। इसके अतिरिक्त विजय नगर मे विभिन्न इमारतो और महलो का निर्माण हुआ था। हिन्दुओं ने निर्माण शैली मे तो मुसलमानों से कुछ सीखा परन्तु कला की दृष्टि से उन्होंने अपनी कला को मुस्लिम कला के प्रभाव से मुक्त रखा, जिसके कारण उनकी इमारते मुस्लिम शासकों की इमारतो से भिन्न रही। मेवाड के राजा कुम्भा ने अनेक किले, महल और मन्दिर बनवाये थे। उनमें से प्रमुख 'कुम्भलगढ का किला' और

---

1 आ प्रद्युम्नगिरिप्रान्तादमरेश पुरावधि।
मठाग्रहारहट्टाढ्या स जैननगरी व्यधात्।। जोनराजकृत राजतरगिणी (869)

'चित्तौड का कीर्ति अथवा जय स्तम्भ' है। जय स्तम्भ का कुछ भाग लाल पत्थर से और कुछ भाग सफेद सगमरमर से बना हुआ है। चित्तौड मे ही एक स्तम्भ 'जैन स्तम्भ' भी है। इसमे नक्काशी का बहुत सुन्दर काम है। राजस्थान के अन्य भागो मे किले और महल बनवाये गये। दक्षिण में 'गोपुरम्' बनाने की प्राचीन कला को विजय नगर सम्राटो ने और अधिक विस्तृत किया तथा मन्दिरो के 'गोपुरम' (मन्दिरों के प्रवेश द्वार के ऊपर बनवाया गया गुम्बद) पहले की तुलना में अधिक बडे बनाये गये। सम्राट 'कृष्णदेव राय' द्वारा बनवाया गया 'विट्ठल स्वामी का मन्दिर' दक्षिण भारत की इमारतों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विभिन्न मन्दिरों पर विभिन्न राजाओं ने नवीन मण्डप (छत्र) भी बनाये जेसे 'वेलूर के किले' के 'पार्वती मन्दिर' पर, कांचीपुरम् के 'वरदराज स्वामी' और 'एकाम्बरनाथ' के मन्दिर पर और 'त्रिचनापल्ली' के 'जम्बुकेश्वर' के मन्दिर पर।

काश्मीर के शासकों ने भी अनेक मठों व जैन मन्दिरो का निर्माण करवाया। तत्कालीन शासक जैनुल आबदीन ने प्रद्युम्नगिरि प्रान्त से लेकर अमरेशपुर तक जैन नगरी को मठ, अग्रहार, हट्ट से सम्बद्व कर दिया।[1] इसके अतिरिक्त शिर्यमभट्ट ने जगह–जगह पर मठो को बनवाया और राजा के अन्य सचिवो ने बहुत सी धर्मशालाए बनवायी।[2]

इस युग मे मुसलमान शासकों द्वारा बनवायी गयी इमारतों की विशेषता गुम्बद, मीनारे, मेहराबे और तहखाने थे। अधिकाश इमारते मकबरे, महल, मस्जिदें तथा किले थे। हिन्दू इमारतो की विशेषता स्तम्भ, नुकीली

---

1 विषये–विषये चक्रे शिर्यभट्टो मठान् पृथून्।
अन्येपि सचिवा राज्ञो धर्मशाला बहूर्व्यधु ।।
जोनराज कृत राजतरगिणी (889)

मेहराबे और उनकी अलकारिकता थी। हिन्दुओ ने अधिकाश मन्दिर, किले, गोपुरम और मण्डप, मठ, धर्मशालाये आदि बनवाये। भारत मे प्रवेश करके मुस्लिम कला बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी और बिना प्रयत्न किये ही एक ऐसी स्थापत्य कला का निर्माण हुआ जो भारतीय इस्लामी कला कहलायी और जिसने भविष्य की स्थापत्य कला के निर्माण में सहयोग दिया।

संगीत कला

इस्लाम धर्म में सगीत कला वर्जित है। इस कारण दिल्ली सल्तनत के कुछ प्रारम्भिक सुल्तानो ने इस कला की ओर से कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु बाद मे बलवन, जलालुद्दीन खिलजी, 'अलाउद्दीन खिलजी' और 'मोहम्मद तुगलक' जैसे सुल्तानों ने इसे सरक्षण प्रदान किया। 'बलबन' के सम्बन्ध मे 'एम0 डब्ल्यू0 मिर्जा' लिखते हैं, "बलबन सगीत कला का एक बडा संरक्षक था। उसने भारतीय संगीत कला की बहुत प्रशंसा की और उसे अन्य देशों की सगीत कला से श्रेष्ठ स्वीकारा।" बलबन का पुत्र 'बुगराखां' भी संगीत कला का प्रेमी था। उसने गायकों, नर्तकों और नाटककारों की एक संस्था का निर्माण किया था। अलाउद्दीन खिलजी ने इस कला को सरक्षण प्रदान किया। उसने दरबार मे सगीतज्ञो के एक समूह को स्थान दिया था। तत्कालीन दक्षिण भारत के महान संगीतकार गोपाल नायक को अपने दरबार में बुलाया था। उसके दरबार मे अपने समय के महान कवि, लेखक और गायक अमीर खुसरो को संरक्षण प्राप्त था। खुसरो ने भारतीय व ईरानी रागो का मिश्रण कर कुछ नवीन शैली जैसे 'इमान जिल्फ', 'साजगरी' आदि को

जन्म दिया। गियासुउद्दीन तुगलक के समय मे सगीत पर निषेध था उसके बाद उसके पुत्र मोहम्मद तुगलक ने सगीत में रूचि ली और अपने राज्य में संगीत गोष्ठियो का आयोजन किया। जिसमें हिन्दू और मुसलमान सभी संगीतज्ञ सम्मिलित हुए। फिरोज तुगलक भी संगीत कला मे रूचि रखता था। उसके बारे मे प्रसिद्व है कि जब वह सिंहासनारूढ हुआ तो इक्कीस दिनों तक संगीत गोष्ठी का आयोजन किया।

प्रान्तीय संगीत

इस युग में विभिन्न प्रान्तीय स्वतंत्र शासको ने भी सगीत कला को संरक्षण प्रदान किया। जौनपुर के प्राय सभी शासको ने सगीत कला पर विशेष ध्यान दिया। उनके काल मे 1375 में एक मुसलमान विद्वान ने एक अच्छे ग्रन्थ "गुनयाल–उल–मुनयास" सगीत कला की रचना की। वहां का शासक हुसैन शाह शरकी स्वयं अच्छा संगीतज्ञ था। उसने एक नवीन राग 'ख्याल' को भारतीय सगीत कला मे सम्मिलित किया। इसके अतिरिक्त उसके काल मे विद्वानो ने संगीत शिरोमणि नामक एक श्रेष्ठ 'संगीत ग्रन्थ' की रचना की। गुजरात व मालवा के शासको ने सगीत को प्रश्रय दिया। मालवा का शासक बाजबहादुर व उसकी पत्नी रानी रूपमती इस कला के अच्छे ज्ञाता थे। कश्मीर का सुल्तान जेनुल–आब–दीन भी संगीत कला का अच्छा ज्ञाता था, उसने भी अपने दरबार मे सगीतज्ञो को प्रश्रय दिया उसके राज्य में बुद्विदत्त नामक संगीतज्ञ ने प्रसिद्व ग्रन्थ लिखा। इसके अतिरिक्त काश्मीर में नृत्य कला का भी उल्लेख मिलता है।[1] बिहार में चिन्तामणि एक महान

1 द्रष्टव्य –जोनराज कृत राजतरगिणी (126)

सगीतज्ञ हुए। जिन्हे 'बिहारी बुलबुल' की उपाधि दी गयी। तिरहुत में 'विद्यापति' नामक एक महान संगीतज्ञ हुए उनका 'कजरी' नामक काव्य सगीत काफी लोकप्रिय हुआ। ग्वालियर का राजा मानसिंह कला मर्मज्ञ था उसके काल में संगीत विद्वानों ने 'ध्रुप्रद राग' का प्रारम्भ किया जो उत्साहवर्धक राग है। बैजू बावरा को भी उसका सरक्षण प्राप्त हुआ।

दक्षिण भारत के विभिन्न शासको ने सगीत कला को संरक्षण प्रदान किया, इनमें प्रमुख बहमनी राज्य के 'फिरोज शाह' और 'महमूद शाह' है, बीजापुर के आदिलशाह और विजय नगर के राजाओ ने भी इस कला को अपना प्रश्रय दिया।

भक्ति मार्ग के प्रचारकों ने भी संगीत कला की उन्नति में अपना सहयोग दिया बगाल मे चैतन्य महाप्रभु, चण्डीदास व सूफी सन्तों ने समूह गान को लोकप्रिय बनाया।

सारंगदेव ने महान ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' की रचना की। उस समय सगीत की बारह शैलिया 'मैदी', 'टोडी', 'कर्नट', 'केदार', 'यमन', 'सारंग', 'मेध', 'धनसारी', 'पूर्वी', 'तुखारी' और 'दियांक' प्रचलित थीं। इस प्रकार हम पाते है कि दिल्ली सल्तनत मे संगीत कला की उन्नति होती रही। इसमें कोई सन्देह नही कि नृत्य व सगीत दोनो कला को इस काल मे भरपूर सरक्षण मिला। एक विद्वान ने कहा है कि ''इस काल (सल्तनत) में 'धर्म निरपेक्ष' और 'आध्यात्मिक' दोनों ही प्रकार का सगीत श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सका था।''
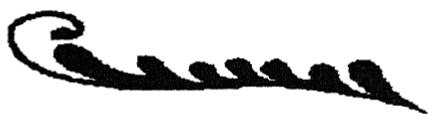
अष्टम अध्याय
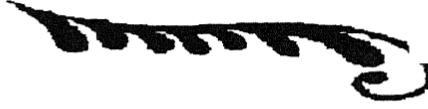
अष्टम–अध्याय

उपसंहार

इस प्रकार मध्य युग के इतिहास मे मुहम्मद गोरी के आक्रमण के अनन्तर मुस्लिम शासन भारत के सम्पूर्ण भागो पर न होकर कुछ सीमित प्रदेशो में ही रहा। अधिकाश भाग मुस्लिम शासन से स्वतत्र ही बना रहा। पूरे भारत में मुस्लिम सत्ता स्थापित करने का श्रेय जिस शासक को जाता है वह अलाउद्दीन खिलजी। उसकी वास्तविक प्रभु सत्ता विन्ध्य के आगे न बढ सकी। खिल्जी वंश के उत्थान पतन मे मात्र बीस वर्ष लगे। खिल्जी वंश के पश्चात् आने वाले तुगलक वंश ने अपनी सत्ता सुदृढ़ की। थोडे शासन काल के बाद तुगलक वंश उच्छिन्न हो गया। भारत अब तुगलक और मुगलो के आगमन मध्य लगभग दो शताब्दियो तक छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त रहा।

बीस और दस वर्षों तक शासन करने वाले खिल्जी वंश तुगलक वशों की शासनावधि के समाप्त हो जाने पर भारत मे तुर्की शासन जाता रहा। इन दोनो के अवशेषों से दकन के बहमनी, पश्चिम मे गुजरात और पूर्व मे बगाल मे मुस्लिम सत्ताओ का उदय हुआ। विजय नगर मेवाड़, उडीसा और पूर्वी तट पर हिन्दुओं का शासन था। मालवा और जौनपुर के मुस्लिमों शासकों ने भी कभी–कभी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा की। इन सभी राज्यो मे पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और सघर्ष चलता रहा था। दिल्ली सल्तन्त का अल्पकालिक पुनरूत्थान लोदियों के शासनकाल मे हुआ।

मुस्लिमो के आगमन और समाज में धीरे–धीरे स्थापित होने पर

भी अधिसंख्यक हिन्दू समाज अपनी पुरातन परम्पराओ के बनाये रखने मे सफल रहा। पहले से चली आ रही चार जातिया एव युग मे भी बनी रही। मिथिला, वाराणसी, बंगाल आदि के रचनाकारो ने विविध स्मृतिपरकग्रन्थ लिखे। अभिलेखो का इस युग में अभाव है। इससे स्मृतियों मे प्रतिपादित नियमो का कितना अनुपालन हुआ। इसका प्रमाणिक ज्ञान नहीं हो पाता। ऊपर बताये गये क्षेत्रीय स्मृति सम्प्रदायो के उदय से इस समस्या का समाधान काफी हद तक हो जाता है। इन आचार्यो ने सामाजिक मूल्यो का मानदण्ड अपने–अपने ग्रन्थों मे महत्त्वपूर्ण तरीके से निर्धारित किया। चण्डेश्वर ने गृहस्थ–रत्नाकरए वाचस्पति मिश्र ने विवाद–चिन्तामणि, मिसारू मिश्र ने विवादचन्द्र, मदनसिंह ने मदन रत्न प्रदीप, मदन परिजात और दीपकलिका आदि प्रमुख ग्रन्थो की रचना की। इनमे चारों वर्गोके व्यक्तियो द्वारा किये गये जाने वाले दैनिक कर्मो का उल्लेख है।

परिवार, जो समाज का एक महत्त्वपूर्ण घटक है, इन ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है। परिवार के सदस्यों की स्थिति उनके स्वरूप आदि का वर्णन है। विवाह नामक संस्कार पर ग्रन्थकारो ने अपने विचार खुलकर रखे हैं। तीन वर्णो मे विवाह सम्बन्ध अपनी–अपनी जातियो में ही किये जाते थे। साथ ही ऊची जाति वाले अपने से अवर जाति से कन्या ले सकते थे। अनुलोम विवाह स्वीकृत थे और होते भी थे। विजातीय विवाह कही–कहीं हुए भी किन्तु अधिकतर इनसे बचने का प्रयास किया जाता था। समाज मे विजातीय विवाह को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सती–प्रथा पर कुछ सल्तानों ने रोक लगाने का प्रयास भी किया। इसके अन्तर्गत सती होने के पूर्व सुल्तान की

अनुमति लेनी पडती थी।

सामान्यतया महिलाओ की दशा बहुत अच्छी नही थी। शिक्षा की व्यवस्था का प्रचार प्रसार जन सामान्य तक नहीं पहुच सका था। राजपरिवारीय और उच्चवर्गीय स्त्रियाँ ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। सामान्य स्त्रियो को शिक्षा से बंचित रखने के साथ ही साथ उनका प्रयोग सामग्री के रूप मे में करने में भी शासकवर्ग नहीं हिचकते थे। ये बादशाह पराजितों की स्त्रियो को अपने मित्रों तथा प्रियजनों को उपहार रूप में दे देते थे। जहां उनका शारीरिक और मानसिक शोषण होता था। विजयी द्वारा पराजितों को दास रूप में रखा जाने लगा जिनके साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जाता था। हिन्दू और मुसलमान साथ साथ दीर्घ काल तक रहे किन्तु एक केन्द्र के दो वृत्तों की परिधिवत् कभी मिल नही सके। मुस्लिम शासको ने हिन्दुओं पर इतने अत्याचार किये कि हिन्दुओं के मन में उनके प्रति घृणा और द्वेष ही उभरा। जजिया, जबरन, धर्मपरिवर्तन, सामाजिक अपमान, व्यक्तिगत जलालत आदि अत्याचारसे मुस्लिमों ने हिन्दुओं को अपना सहज बैरी बना लिया।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे अर्थ व्यवस्था के मेरूदण्ड ग्राम ही बने रहे। पूर्वकाल से चली आ रही स्वशासन प्रणाली के सोपान ग्राम–पंचायते, न्याय पचायते आदि शनै.–शनै महत्त्वहीन होकर रह गयी थी। कहीं–कहीं इनका अस्तित्व भी नही रहा। शक्ति का केन्द्र बादशाह ही होता था। अतः केन्द्रीय शासन और जमीदारी का प्रभाव बढ रहा था। 1333–1346 के बीच आनेवाले मूरिश यात्री इब्नबतूता ने मालवा, गुजरात, दकन, बगाल आदि के बाजारों को अत्यन्त समृद्ध बताया है। समृद्धि गावो की तुलना में शहरों मे

अधिक थी। भूमि का उपजाऊपन पहले के ही तरह बना हुआ था। धान, ज्वार, बाजरा, गन्ना,मटर, गेहू, जौ आदि फसलें उगाई जाती थी। उद्योग और व्यापार भी गतिशील बना रहा। गुजरात मे वस्त्र व्यापार की प्रगति चरम सीमा पर थी। प्रमुख औद्योगिक नगर कैम्बी मे श्वेत सूत्री वस्त्र बनते थे। वेरावल समुद्र तट से गुजरात मे निर्मित वस्त्रो का विपणन होता था। वेरावल से अरब सागर और फिर लाल सागर होते हुए ये वस्त्र पश्चिम बंगाल के बाजारो में बिकते थे। वस्त्रों के अतिरिक्त सोना, चादी, स्वर्णाभूषण, मोतियो के आभूषण, नगीने आदि के अतिरिक्त मसाले, मिर्च, अदरक, दालचीनी, इलायची, हर्रे, इत्यादि मुस्लिम देशों को भेजे जाते थे। इससे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि हो रही थी।

शासनतत्र मे भी इस्लामिक प्रभाव बढा। मुस्लिमो द्वारा शासित प्रान्तो मे खलीफा प्रधान होता था जो कुरान के निर्देशों के अनुसार शासन चलाता था। न्यायालय व्यवस्था के लिए काजी नियुक्त होते थे। किन्तु सारी शक्ति सुल्तान में केन्द्रित थी वह सबसे बडा शक्ति केन्द्र होने के साथ ही सर्वोच्च न्यायाधीश भी होता था। इनकी दण्ड व्यवस्था कठोर थी। सेना मे प्रमुख पदो पर मुस्लिमो को ही नियुक्त किया जाता था। सेनापति सुल्तान के आदेशो का पालनकर्ता होता था।

धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक आचार्यो ने अपने अपने सम्प्रदाय के सिद्वान्तो का प्रचार किया। हिन्दू धर्म मे शैव, वैष्णव और भागवत सम्प्रदाय प्रमुख थे। अपने धर्म के प्रचारार्थ इन अचार्यों ने मठ, सम्प्रदायों और मन्दिरों का निर्माण करवाया। दार्शनिक चिन्तको ने भी अपने सम्प्रदाय की मान्यताओ

का प्रसार करने के लिए अनेक ग्रन्थो की रचना की। महत्त्व, वल्लभ, रामानुज, चैतन्य आदि भक्तो और दार्शनिको के साथ ही साथ रामानन्द, चैतन्य आदि भक्तो और दार्शानिको के साथ ही साथ रामानन्द, कबीर, नानक आदि ने समाज से ऊंच–नीच, छुआ–छूत सती आदि दोषों को दूर करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। इनके प्रयासो से समाज में जनजागरण हुआ और दोष धीरे–धीरे विलुप्त होने लगे। मुस्लिम धर्म के लोगों के अपने धर्म के प्रचार में जबरन मुसलमान बनाना जारी रखा। इस्लाम राजधर्म बना रहा। अन्य धर्मानुयायियों को सहन करना मुस्लिमों ने सीखा ही नही। इस युग में हिन्दू और मुस्लिम शिक्षा–पद्वतियों द्वारा शिक्षा की जाती थी। शिक्षा के प्रमुख केन्द्र नवद्वीप, मिथिला, बनारस, मथुरा, वृंदावन, प्रयाग आयोध्या, श्रीनगर और मुल्तान।

मुस्लिम शिक्षापद्धति के प्रमुख उच्च शिक्षा केन्द्र थे आगरा, दिल्ली, जौनपुर। जौनपुर को भारत का सिराज कहा जाता था। उस समय न्याय, शास्त्र, धर्मशास्त्र, पैगम्बरो का परिचय व्याकरण, शब्द–विज्ञान, साहित्य आर्युविज्ञान, गणित, खगोल शास्त्रादि का अध्ययन–अध्यापन होता था। सस्कृत–साहित्य विविध विधाओ मे लेखन हुए। श्रीवर की 'राजतरगिणी' प्रज्यभट्ट की 'राज्यावलिपताका', गड्गा देवी का 'वीरकम्परायचरितम्' सालुवाभ्दुय आदि ग्रन्थो की रचना हुई। इसके अतिरिक्त अरबी, फारसी, मराठी, गुजराती, हिन्दी, बगाली, कन्नड, तेलगू, मलयालम आदि भाषाओं में भी बृहद साहित्यिक कृतिया रची गयी।

चित्रकला और स्थापत्य कला के क्षेत्र में कुछ उत्कृष्ट कार्य हुए।

कुतुबमीनार, ढाई दिन का झोपडा, जामा मस्जिद, अलाई, दरवाजा आदि स्थापत्य कला के बेजोड नमूने है। इस प्रकार यह समाज विविध परिवर्तनो से गुजरता हुआ इस समय से लेकर मुगलों के आगमन के पूर्व तक ऐसे ही चलता रहा।

अधीत–ग्रन्थ–विवरणिका

संस्कृत

ग्रन्थकार	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशन
सदाननन्द योगीन्द्र	वेदान्तसार	सुदर्शन प्रकाशन इलाहाबाद
अद्वैतानन्द	ब्रह्मविद्याभरण	मद्रास 1894
अगस्त्य(विद्यानाथ)	प्रतापरूद्रयशोभूषण	**BSS No. LXV**
अगस्त्य(विद्यानाथ) सेन	बालभारत	श्रीरंगम् 1942
आनन्द भट्ट	भारतचम्पू	मुम्बई 1903,1916
बल्लालसेन	भोजप्रबन्ध	एल जी ग्रे
भास्कर	उन्मत्तराघव	मुम्बई 1889
भट्टोजिदीक्षित	सिद्धान्तकौमुदी	वाराणसी
भट्टोजिदीक्षित	शब्दकौस्तुभ	वाराणसी 1898,1917
चण्डेश्वर	स्मृतिरत्नाकर	बी 1925
चण्डेश्वर	कृत्यरत्नाकर	बी. प्रथम 1925
चण्डेश्वर	विवादरत्नाकर	कलकत्ता 1899
चण्डेश्वर	गृहस्थरत्नाकर	बी 1928
चण्डेश्वर	राजनीतिरत्नाकर	पटना 1924
चरित–सुन्दग्गणि	महिपालचरितम्	जामनगर1909
चरित–सुन्दरगणि	शिलादूत	बनारस 1913
गणेश	ग्रहलाधव	बम्बई 1900
गंगादास	छन्दोमजरी	बीएसएसजीब्ल्यू 1864चच 20–9–42
गगादेवी	मधुराविजयम्	अन्नामलाई 1957

गंगाधर	गंगादासप्रतापविलासम्	एगलिग इण्डिया आफिस केट लाग **vii** 4194
गोपीनाथ चक्रवर्ती	कौतुकसर्वस्व	कलकत्ता 1828
गोविन्दानन्द	दानकौमुदी	**B.I.** 1903
कविकंकणाचार्य	दुर्गोत्सवविवेक	कलकत्ता
कविककणाचार्य	प्रायश्त्तिविवेक	कलकत्ता 1893
कविककणाचार्य	श्राद्धकौमुदी	बी आई 1902
गुणरत्नम् सूरी	क्रियारत्नसमुच्चय	बनारस 1908
जगद्धारा	स्तुतिकुसुमात्र्जलि	बम्बई 1891
जगदीश्वर	हास्यार्णव	लाहौर 1921
जीवगोस्वामी	गोपालचम्पू	कलकत्ता 1908
कल्याणमल्ल	अनंगरग	कलकत्ता 1944
ज्योतिरीश्वर कविशेखर	धूर्तसमागम	बान 1838
कंचनाचार्य	धनंजयविजयव्यायोग	बम्बई 1885
कपिल	सांख्यप्रवचनसूत्र	एडिनवर्ग 1921
कविकर्णपूरपरमानन्ददाससेन	आनन्दवृन्दावनचम्पू	हुगली 1918
केदार भट्ट	वृत्तरत्नाकर	कलकत्ता 1915
कीर्तिराज	नेमिनाथमहाकाव्य	भावनगर 1914
क्षेमेन्द्र	सिंहासनद्वात्रिंशिका	कैम्ब्रिज 1926
लौगाक्षि भास्कर	तर्ककौमुदी	मुम्बई 1928
लोलिम्बराज	हरिविलासकाव्यमाला	मुम्बई 1895
भरतपाल	मदनपरिजात	बी–प्रथम 1893
माधवाचार्य	पराशरमाधव	मद्रास 1868
माधवाचार्य	कालनिर्णय	बनारस 1909

माधवाचार्य	सर्वदर्शनसग्रह	पूना 1906, 1924
माधवाचार्य	जैमिनीयन्यायमालाविस्तार	लन्दन 1878
माधवाचार्य	पचदशी	श्रीरंगम् 1912
मल्लिनाथ	तरला	मुम्बई 1903
मेरुतुगाचार्य	प्रबंन्धचिन्तामणि	मुम्बई 1888
मिसारू मिश्रा	विवादचन्द्र	रामकृष्ण झा
नारायण	वृत्तिचन्द्रिका	बनारस 1927
नयचन्द्र	हम्मीरकाव्य	मुम्बई 1879
रघुनन्दन	दयातत्त्व	कलकत्ता 1904
रघुनन्दन	व्यवहारत्त्तत्व	कलकत्ता 1828
रघुनन्दन	स्मृतितत्त्व	जेएसएबी 1915
रामचन्द्र	रसिकरजन	मुम्बई 1899
रूपगोस्वामी	विदग्धमाधव	मुम्बई 1903
रूपगोस्वामी	ललितमाधव	बहरामपुर 1902
रूपगोस्वामी	दानकेलिचन्द्रिका	बहरामपुर 1926
रूपगोस्वामी	उज्ज्वलनीलमणि	मुम्बई 1913
रूपगोस्वामी	पद्यावली	ढाका 1934
रूपगोस्वामी	स्तवमाला	मुम्बई 1903
रूद्रधारा	श्राद्धविवेक और शुद्धविवेक	बनारस 1900
साल्व नरसिह	रामाभ्युदय	मद्रास 1929
सर्वानन्द	जगदूचरितम्	इण्डियनस्टडीज
शिवादित्य	सप्तपदार्थी	मद्रास 1932
सोम चरित्रमणि	गुरुग्रन्थरत्नाकर	बनारस 1911
श्रीवर	कथाकौतुक	हेसलर 1893

शगपाणि	दीपकलिका	जेएएसबी 1915
तिरूमलाम्बा	वरदाम्बिकापरिणय	लाहौर 1938
उद्‌दण्ड	मल्लिकामृत	कलकत्ता 1878
वाचस्पतिमिश्र	विवादचिन्तामणि	बडौदा 1942
वामनभट्‌टबाण	वेमभूमपालचरितम्	श्रीरग्गम 1910
वामनभट्‌टबाण	पार्वतीपरिणय	लोपिज 1913
वरदाचार्य	वेदान्तविलास	1902
वासुदेव	वासुदेवविजयम्	पूना 1923
वेकटनाथ अथवा	संकल्पसूर्योदय	श्रीरंगम 1917
वेदान्तदेशिक	तत्त्वयुक्ताकलाप	बनारस 1900
वेकटाध्वरित्त्व अथवा वेंकटेश	श्रीनिवासविलासचम्पू	मुम्बई 1893
विद्याचक्रवर्तिन	रूक्मिणीकल्याण	श्रीरगम्
विद्यापति	पुरुष परीक्षा	मुम्बई 1882
विज्ञानाभिक्षु	सांख्यप्रवचनभाष्य	बनारस 1928
विष्णुदास	मनोदूत	कलकत्ता 1847
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	कलकत्ता 1946
विश्वनाथ	सौगन्धिकाहरण	मुम्बई 1902
विश्वनाथ	बृहद्धर्मपुराण	कलकत्ता
मदनपाल	मदनरत्नप्रदीप	बीकानेर 1948
"	नृसिंह प्रसाद	बनारस 1934
"	श्राद्धसार	बनारस 1934
"	तीर्थसार	बनारस
"	सरस्वतीविलास (व्यवहारकाण्ड)	मैसूर 1927
राजनाथद्वितीय	सालुवाभ्युदय	

हिन्दी

लेखक	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशन
ए0ए0एस0 रिजवी	आदितुर्ककालीन भारत	अलीगढ 1956
	खिलजीकालीनभारत	अलीगढ 1955
	तुगलककालीनभारत (प्रथम भाग)	अलीगढ 1956
	तुगलककालीनभारत (द्वितीय भाग)	अलीगढ 1956
आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव	भारतकाइतिहास	आगरा 1992
युसुफ अली अब्दुल्ला	हिन्दुस्तानके मुशारतीहालात	इला0 1928
डॉ वीरेन्द्र कुमार सिह	प्राचीन भारतीय सस्कृति के आधार	अक्षयवट प्रकाशन दिल्ली
हरिश्चन्द्र वर्मा	मध्य कालीन भारत का इतिहास खण्ड–1	दिल्ली 1996
चौपडापुरीदास	भारत का सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास	मैकमिलन 1996

BIBLIOGRAPHY

ENGLISH BOOKS

Author	Title	Publication
Tuhfa-i-Akbar	'Abbas Khan Sarwani,	British Museum Or. 164
Tughluq-namah.	Amir Khusrav;	Aurangabad
Agnides, Nicholas P.	Muhammad Theories of Finance.	New York, 1916
Ahmad, M.B.	The Administration of Justice in Medieval India.	Aligarh, 1941
Husain, Wahid	The Administration of Justice during the Muslim Rule in India	Calcutta, 1934
Qureshi, I.H.	The Administration of the Sultanate of Delhi 2nd Ed	Lahore, 1921
Tripathi, R P.	Some Aspects Of Muslim Administration. Ist Ed.	Allahabad, 1956
Das Gupta, S.N. & De, S.K.	History of Sanskrit litrature.	Calcutta, 1947
De, S.K.	History of Sanskrit Poetics.	London, 1923,1925 IInd Ed Calcutta 1960
Kane, P V.	History of Alankara Literatur History of Sanskrit Poetics	Bombay, 1923, 1951.
Kane, P.V.	History of Dharmasastra.	Poona, 1930-62
Barnett, L.D.	Hindu Gods and Heros	London, 1923
Bhandrakar, R.G	Vaishnavism and Minor Religious Systems.	Strassbourg, India 1913Edittion, Poona 1938.
Cultural Heritage of India	----------------------------------	Calcutta, 1956.

De, S.K	Early History of the Vaishnava, faith and movement in Bengal	Calcutta, 1942
Farquhar, J N	Outline of the religious Literature of India	Oxford, 1920
Kane, P V	History of Dharmasastra 5 Vol.	Poona, 1930
Konow, Sten & 1949 Tuxen, Paul	Religions of India,	Copenhagen,
Westcott, G.H.	Kabir and the Kabir Panth, II Ed	Calcutta1953
Asharaf, K.M	Life and condition of the people of Hindustan.	A D. 1200-1550
Husain, W.	Conception of Divinity in Islam and Upnishad	Calcutta, 1939
Husain, Y.	Glimpses of Medieval Indian Culture,	1957.
Sen, Ksitimohan	Medieval Mysticism in India	London, 1036
Thomas, F.W.	Mutual Influence of Muhammedans and Hindus in India	Cambridge, 1892
Titus, M T.	Indian Islam	Madras, 1938
Wilson, H.H.	Religious Sects of the Hindus	
Nrisimhaprasada Prayaschittasara	The Princess of Wales Sarasvati Bhavan	Banaras, 1934
Do Do Sraddhasara	The Princess of Wales Sarasvati Bhavan	Banaras, 1934
Do Do Tirthasara	The Princes of Wales Sarasvati Bhavan	Banaras,
Husain, Yusuf	Glimps of Medieval Indian Culture,	Bombay,1957
Evenfelds, V.	Socio- Religious role of Islam in the History of India	1939
Hussain Mahdi	The Hindus in medieval India,	
Lal, K.S.	Foob and drink in Medieval India,	
Brown, Percy	Indian Architecture (Islamic Period)	Bombay,
Fergusson, J	History of Indian and Estern Architecture	London, 1910
Fletcher, B.F.	A History of Architecture on the Comparative method	London, 1950

Havell, E.B.	Indian Architecture. Its Psychology, Structure and History from the first Muhammadan Invasions to the present day.	London, 1913
Zafar Hasan, M.	List of Muhammadan and Hindu Monuments in the Province of Delhi,	Calcutta, 1916-22
Saraswati, S K.	Muslim Architects in Bengal, Journal of the Indian Society of Oriental Art Calcutta, Vol X	
Prasad, Ishwari	History of Medival India, Ist Ed	Allahabad, 1925

ARTICLES

Askar, S H — Medicines and Hospitals in the Sultans of Delhi, JBRS, XLIII 1957, 7-22

Bannerjee, A C — The influence of Islamic traditations on the Sultanate of Delhi JIH, XVI, 151-168

Bannerjee, A C — A note on the provincial government and the Sultanate of Delhi.IC,V, 255-60

Bannerjee, S.K — Sovereignty in early Muslim India 1210-1236 A.D IC, 9-22.

Basu, K.K. — Muslim kingship in medieval India, its aetiology and application.PIHC, VI, 235-38.

Chaudhury J.N. — The administration of the Delhi empire in the pre-Mugal period. IHQ.VI, 265-71;VII, 41-54

Day, U.N. — The military organisation of the Sultanate of Delhi 1210 -1288). Journal of the U.P.

Gode, P.K. — Use of Guns and Gunpower in India from A.D.1400 onwards.NIA,II, 169-176.

Habibullah, A.B M. — Provincial Government under the Mameluke Sultans of Delhi.IHQ, XI,252-62

Islam, R — Sources of revenue under Firuz Shah Tughluq, PIHC VI, 222-7.

Lal, K.S. — The Spirit of Muslim Government in India. *Annual Bulletin of the Nagpur University History Society, No. 2 October, 1947*

Makhdhomee, A — Mechanical artillery in Medieval India. JIH, XV, 189-195

Ray,N B — A peep into the Delhi court during the Reign of Sultan Firuz Shah. PIHC , V , 313-17

Sahabudin, S. — Conduct of Strategy and tactics of war during the Muslim rule in India. IC, XX, 154, 291-345 XXI, 7,123

Saksena, B P — 'Ala-ud-din's fiscal reforms PIHC,III, 872-76

Sharma Sri Ram — Firuz Shah's fiscal reforms Pihc. III 257-63.

Siddiqi, A.M — The organisation of the central and Provincial Government under the Bahmanides, AIOC VIII, 463-81

Sınha, H N.	Foundatıonoflndo-Islamıc State. *Annual Buletın of Nagpur Unıversity Hıstorical Socıety oct, 1946*
Halım, A.	Muslim Kings of the 15th Century and Bhaktı Revıval, pıhc, X, 305-310
Rao, S H	Hındu relıgious movement in Medıeval Deccan JIH,XV, 103-113
Sen,S N	Hınduism and Muhammedan heretics during the Pathan perıod AIOC, III, 401-405
Shastery, M.A.	History of Sufism, AIOC, II, 583-99
Smıth, M.	The Path of The Soul in Sufism, Muslim Revıew, vol no.-2
Walı, A.Maulvi	Hinduism according to Muslim Sufis, JASB, XI, (1923), 237-252
Abdur Razzak	Translation of Extracts relating toIndıa With introductory notice
Ibn Batutah Rehla	Compleet translation ın French (Voyagesd'Ibn Batoutha)1859
Mahalıngam, T.V	Administration and Social Life Madras, 1940 Under VIjayanagar
Prasad, Ishwari	Hıstory of Medieval India, 3rd Ed. Allahabad' 1950
Saletore, R B.	Social and Political Lıfe under the VIjayanagar Empire,
Habibullah, A.B M.	Unidıscovered Source-Books of pre Mughal Hıstory PIHC, XI, 159-61
Habıbullah, A.B.M	Revaluation of the Lıterary Sources of Pre-Mughal Indıa, Is. XV, 207-16.
Sherwani, H.K	Bahmani Coinage as a Sources of Deccan Hıstory, D V. Potdar Commemoration Volume, 204-08